: प्रकाशक :
श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथम आवृत्ति
वीर संवत : २४८१ भाद्रपद शुक्ला पंचमी
प्रति १०००

मूल्य
२—८—०

★

: मुद्रक :
जमनादास माणेकचंद रवाणी
अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर (गुजरात)
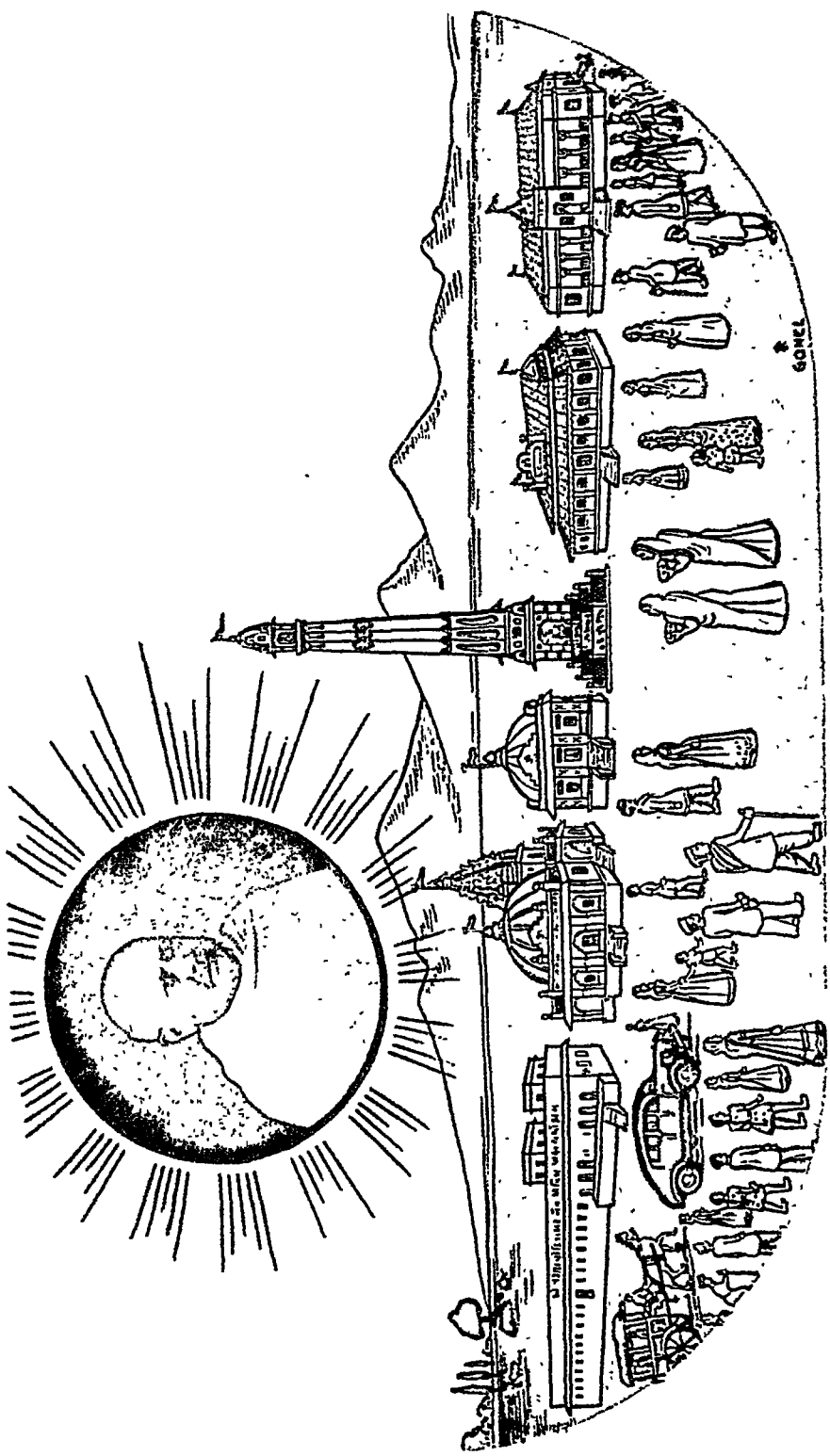
यह है 'सुवर्ण का सूर्य'–जिन्होंने ज्ञायकस्वभावके सन्मुख लेजानेवाला "क्रमबद्धपर्याय"का तेर प्रवचनोंकी अपूर्व भेंट देकर भारतके मुमुक्षु जीवोंके उपर महान उपकार किया है।

लीजिये अमूल्य भेंट

(निवेदन)

जो प्रवचन इस पुस्तक में प्रसिद्ध हुये हैं वे वास्तव में जैनशासन के पुनीत साहित्य में पू. श्री कहानगुरुदेव की एक महान अमूल्य भेंट है। हम विचार में पड़ गये कि इस अमूल्य भेंट को कौन-सा नाम दिया जाय ? अन्त में बहुत सोचकर इसका नाम रक्खा—"ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव" यह नाम क्यों पसन्द किया इसके बारे में थोडा-सा स्पष्टीकरण देखिये—

१–आत्मा का ज्ञानस्वभाव है;

२–उसकी पूर्ण व्यक्ति केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता है; सर्वज्ञता के निर्णय से ज्ञानस्वभाव का भी निर्णय हो जाता है (प्रवचनसार गा. ८० वत्)

३–सर्वज्ञता के निर्णय में सारे ही ज्ञेय पदार्थों के स्वभावगत क्रमबद्धपरिणमन की प्रतीति भी हो ही जाती है, क्योंकि भगवान सब देख रहा है।

—इस तरह ज्ञानस्वभाव की प्रतीति, सर्वज्ञता की प्रतीति व क्रमबद्धपर्यायों की प्रतीति—ये तीनों ही एक दूसरे से अविनाभावी हैं, एक के निर्णय में दूसरे दोनों का निर्णय भी आ ही जाता है।

इस तरह ज्ञानस्वभाव का व ज्ञेयस्वभाव का निर्णय कराने का ही मुख्य प्रयोजन होने से इस अमूल्य भेंट का नाम "ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव" रखा है। इसके निर्णय किये बिना किसी भी तरह से जीव को वीतरागीज्ञान—सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

जो भी मुमुक्षु जीव आत्मा का हित साधना चाहता हो, सर्वज्ञ भगवान के सुपंथ में मंगल प्रयाण करना चाहता हो, उसको उपर्युक्त विषय का यथार्थ अबाधित निर्णय अवश्य करना ही चाहिये। इसका निर्णय किये बिना सर्वज्ञ के मार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता, और उसका निर्णय होते ही इस

आत्मा में सर्वज्ञदेव के मार्ग का— मुक्ति के मार्ग का— मंगलाचरण हो जाता है।

इस परसे यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी कि जिज्ञासु जीवों को यह विषय कितने महत्व का है! और इसीलिये पू. गुरुदेव ने समयसार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रों के आधार से, युक्ति—अनुभव से भरपूर प्रवचनों के द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझाकर पू. गुरुदेव ने भव्य जीवों के ऊपर परम उपकार किया है।

इस पुस्तक में मुख्यतया समयसार गा. ३०८ से ३११ के उपर पू. गुरुदेव के क्रमबद्धपर्याय संबन्धी तेरह विशिष्ट प्रवचन दिये गये हैं, और बाद में इसी विषय से सम्बन्धित कितने जरूरी प्रवचन भी इसके साथ जोड़ दिये हैं। "आत्मधर्म" मासिक में यह सब प्रवचन छप गये हैं।

इस पुस्तक में झेले गये महत्वपूर्ण प्रवचन ब्र० भाई श्री हरिलाल जैन के भावपूर्ण परिश्रम का फल है। उन्होंने यह प्रवचन अत्यन्त सावधानी एवं उद्यमपूर्वक सुन्दर भाषा में झेले हैं। अतः यह संस्था उनको धन्यवाद देती है।

पूज्य गुरुदेव के ये महत्व के प्रवचनों के लेखन में पू. गुरुदेव का आशय बिलकुल अच्छी तरह बना रहे इसके लिये पू. बेनश्री—बेनजी की ओर से खास सहाय मिली है, इसलिये दोनों पू. बहनों का हम आभार मानते हैं।

ओ भारत के भव्य मुमुक्षु जीवो! इस अमूल्य भेंट को पाकर हर्षपूर्वक इसका सत्कार कीजिये...हमारे आत्महित के लिये श्री तीर्थंकर भगवान ने परम कृपा करके गुरुदेव के द्वारा यह भेंट अपने को दी है—ऐसा ही मानकर, इसमें कहे हुए अपूर्व गम्भीर रहस्य को समझकर, ज्ञायकस्वभाव सन्मुख हो आत्महित के पावन पथ पर परिणमन करो, यही भावना है।

वीर सं० २४८१
भादों सुद पंचमी

—रामजी माणेकचंद दोशी
प्रमुख,
श्री जैनस्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ : सौराष्ट्र

अनुक्रमणिका

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण और विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

[दूसरा भाग]

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

अनेकान्त

अनेकान्त का प्रयोजन (श्री राजचंद्र) २३८

अनन्त पुरुषार्थ

वस्तुविज्ञान अंक

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

—और—

अनेक प्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अखंडरूप से एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायक के सन्मुख दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि काल के सन्मुख नहीं होती, किंतु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ के बिना वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता और न उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। यह बात प्रत्येक मुमुक्षु को लक्ष में रखने योग्य है।

भाई रे! यह मार्ग तो मुक्ति का है या बन्धन का? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके मुक्ति की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय करने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो मुक्ति का मार्ग है उसके बहाने कोई स्वच्छन्द की पुष्टि करता है अथवा उसे "छूत की बीमारी" कहता है, उस जीव को मुक्ति का अवसर कब मिलेगा?

[—पूज्य गुरुदेव]

कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्व-द्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्धयति, सर्वे द्रव्यणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्धयति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्धयति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥
जिव-अजिव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के ।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखै ॥ ३११ ॥

टीका का हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है; जीव नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार (कंकन आदि परिणामों से उत्पन्न ऐसे) सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणमों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है; वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होने से, अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नहीं होता; और वह (अजीव को जीव का कर्मपना) सिद्ध न होने से, कर्ता–कर्म की अन्यनिरपेक्षरूप से (–अन्य द्रव्य से निरपेक्ष रूप से स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नहीं होता; इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

[—समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका के हैं; मूल गाथा तथा टीका में भरे हुए गम्भीर रहस्य को पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में अत्यंत स्पष्टरूप से समझाया है।)

❀ पहला प्रवचन ❀

[आश्विन कृष्णा १२, वीर सं. २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथायें अलौकिक हैं और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीका में क्रमबद्धपर्याय की बात करके तो आचार्यदेव ने जैन–शासन का नियम और जैन–दर्शन का रहस्य

भर दिया है। भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, वह तो ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करता है। कहीं फेरफार करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है और रागको भी बदलने का उसका स्वभाव नहीं है—राग का भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सर्व पदार्थों की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं, आत्मा उनका ज्ञायक है।—ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

(२) जीव—अजीव के क्रमबद्ध परिणाम और आत्मा का ज्ञायकस्वभाव

[टीका]: "जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः......"

आचार्यदेव कहते हैं कि— "प्रथम तो" अर्थात् सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमबद्ध—क्रमनियमित ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है। देखो यह महान सिद्धान्त। जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु में क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें उल्टा-सीधा होता ही नहीं। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगों में इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योंकि इस बात का निर्णय करने जायें तो अपना अभी तक का माना हुआ कुछ भी नहीं रहता। संवत् २००३ में (प्रवचन-मण्डप के उद्‌घाटन प्रसंग पर) सर सेठ हुकमचंदजी इन्दौरवालों के साथ पं. देवकीनन्दनजी आये थे, उन्हें जब यह बात बतलाई तब वे बड़े आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात है!! यह बात अभी तक हमारे लक्ष में नहीं आई थी। छहों द्रव्यों में उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत में अनंत जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनंतगुने अजीव हैं; वे सब द्रव्य अपने अपने क्रम नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं।

जिस समय जिस पर्याय का क्रम है वह एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकती। जो पर्याय १०० नम्बर की हो वह ९९ नम्बर की नहीं हो सकती और १०० नंबर की पर्याय १०१ नंबर की भी नहीं हो सकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय से परिणमित होते हैं। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ? इसलिये धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नहीं है; राग को भी बदलने की बुद्धि नहीं है, वह राग का भी ज्ञायकरूप से ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञापक' है, 'कारक' नहीं है

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इस जगत में ऐसे सर्वज्ञ-भगवान हैं कि जिनके आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं; पदार्थ की तीनों काल की पर्यायों का क्रम निश्चित है; सर्वज्ञदेव ने तीनकाल तीन लोक की पर्यायें जानी हैं। जो सर्वज्ञ ने जाना वह बदल नहीं सकता। तथापि सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वैसी अवस्था होती है—ऐसा भी नहीं है। सर्वज्ञभगवान तो ज्ञापकप्रमाण हैं, वे कहीं पदार्थों के कारक नहीं हैं; कारकरूप तो पदार्थ स्वयं ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने छह कारकों रूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्याय की झन्कार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्धपर्याय की झन्कार करते आ रहे हैं :—

"जीव पदार्थ कैसा है" उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा में कहा था कि "क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायें अंगीकार की हैं।" पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है।—ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बतला दी है।

तत्पश्चात् ६२वीं गाथा में कहा है कि—"वर्णादिक भाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्य के साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं।" यहाँ "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव" प्राप्त करना कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता–कर्म–अधिकार में भी गाथा ७६–७७–७८ में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात जमा दी है। 'प्राप्य' अर्थात्, द्रव्य में जिस समय जो पर्याय नियमित है उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है—पहुँच जाता है, इसलिये उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(५) ज्ञायकस्वभाव समझे तभी क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है

देखो, इसमें ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले तभी यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ में आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो उसे यह बात यथार्थ रूप से समझ में आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे बिना विपरीत ग्रहण करते हैं और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छंद की पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, केवली की प्रतीति नहीं है, अन्तर् में वैराग्य नहीं है, कषाय की मंदता भी नहीं है, स्वच्छन्दता बनी है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेता है—ऐसे हठी–स्वच्छंदी जीव की यहाँ बात नहीं है। जो इस क्रमबद्धपर्याय को समझ ले उसे स्वच्छन्द रह ही नहीं सकता, वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय कराना चाहते हैं और यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मा पर का अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायक-

स्वभाव का निर्णय नहीं करेगा तो तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

जीव और अजीव समस्त पदार्थों की तीनों काल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं—उन सबको जाना किसने? सर्वज्ञदेव ने।

"सर्वज्ञदेव ने ऐसा जाना"—इस प्रकार सर्वज्ञता का निर्णय किसने किया?—अपनी ज्ञानपर्याय ने।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होने पर भी उसने सर्वज्ञता का निर्णय किसके समक्ष देखकर किया?—ज्ञानस्वभाव की ओर देखकर वह निर्णय किया है।

इस प्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है उसी को क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है, और वह जीव पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव का ही कर्ता होता है। ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ है इसलिये यह नियतवाद नहीं है

प्रश्नः—गोम्मटसार में तो नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है न?

उत्तरः—गोम्मटसार में जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है; जो जीव सर्वज्ञ को नहीं मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नहीं किया है, विपरीत भावों के उछाले कम भी नहीं किये हैं, और 'जैसा होना होगा'—ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है, ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है; किन्तु ज्ञानस्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये।

(७) भय का स्थान नहीं किन्तु भय के नाश का कारण

प्रश्न:- क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी हो जायेंगे-ऐसा भय है, इसलिये ऐसे भयस्थान में किसलिये जाना चाहिये ?

उत्तर:- अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह कहीं भय का कारण नहीं है; वह तो स्वच्छन्द के नाश का और निर्भयता होने का कारण है । ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति के बिना, मैं पर को बदल दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि से स्वच्छन्दी हो रहा है; उसके बदले पदार्थों की पर्याय उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती है, मैं उसका कर्ता या बदलनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ— ऐसी प्रतीति होने से स्वच्छन्द छूटकर स्वतंत्रता का अपूर्व भान होता है। यह क्रमबद्धपर्याय की समझ भय का स्थान नहीं है, भय तो मूर्खता और अज्ञान में होता है, यह तो भय के और स्वच्छन्द के नाश का कारण है ।

(८) "ज्ञायकपना" ही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है, ज्ञान ही उसका परम स्वभाव—भाव है। 'ज्ञायकपना' आत्मा का परम भाव है, वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? जैसा 'है' और जैसा 'होता है' उसका वह ज्ञाता है । द्रव्य और गुण वह त्रिकाल सत् और पर्याय वह एक एक समय का सत्, उस सत् का आत्मा ज्ञाता है, किन्तु किसी पर का उत्पादक, नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नहीं है । यदि उत्पन्न करना, नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायक-भावपने की प्रतीति नहीं रहती । इसलिये जो ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता और पर में फेरफार करना मानता है उसे ज्ञायकत्व नहीं रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है ।

(९) "छूत का रोग" नहीं किन्तु वीतरागता का कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूत का

रोग' फैल रहा है। अरे भाई! यह क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति तो वीतरागता का कारण है। जो वीतरागता का कारण है उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नहीं रहती। क्रमबद्धपर्यायपना तो वस्तु का स्वरूप है; उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा उसका धर्म है; क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जिस पर्याय का स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्याय को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभाव को मानना वह रोग नहीं है, किन्तु ऐसे वस्तु-स्वभाव को न मानकर फेरफार करना मानना वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रम से और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्य की तीनों काल की पर्यायों में क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, वह आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता; क्योंकि यदि आत्मा के ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ क्रमबद्धपर्याय का कथन हो रहा है उसमें अनादि अनंतकाल की समस्त पर्यायें समझ लेना चाहिये। द्रव्य की अमुक पर्यायें क्रमबद्ध हों और अमुक अक्रम से हों—ऐसे दो भाग नहीं हैं। कोई ऐसा कहे कि—"अबुद्धिपूर्वक पर्यायें तो ज्ञान की पकड़ में नहीं आतीं, इसलिये वे तो क्रमबद्ध होती हैं, किन्तु बुद्धिपूर्वक की पर्यायों में क्रमबद्धपना लागू नहीं होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती हैं।"—यह बात सच्ची नहीं है। अबुद्धिपूर्वक की या बुद्धिपूर्वक की कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं। कोई ऐसा कहे कि—"भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं, इसलिये उनमें कोई फेरफार नहीं हो सकता;

किन्तु भविष्य की पर्यायें बाकी हैं, इसलिये उनके क्रम में फेरफार किया जा सकता है ।" ऐसा कहनेवाले को भी पर्याय का क्रम बदलने की बुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है । आत्मा ज्ञायक है उसकी प्रतीति करने की यह बात है । ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो "मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया"—ऐसी कर्ता-बुद्धि की सब विपरीत मान्यताओं का भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य बात के श्रवण की भी दुर्लभता

अभी कई जीवों ने तो यह बात सत्समागम से यथार्थतया सुनी भी नहीं है । 'मैं ज्ञान हूँ, जगत की प्रत्येकवस्तु अपनी-अपनी क्रम-बद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, किंतु किसीका कहीं बदलनेवाला नहीं हूँ'—ऐसा यथार्थ सत्य सत्समागम से सुनकर जिसने जाना भी नहीं है; उसे अन्तर में उसकी सच्ची धारणा कहाँ से होगी ? और धारणा बिना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहाँ से हो ? आजकल यह बात अन्यत्र कहीं सुनने को भी नहीं मिलती । यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करने योग्य है ।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित्

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः......' यह मूल टीका है, इसके हिन्दी अर्थ में पंडित जयचंद्रजी ने ऐसा लिखा है कि—'जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित् अपने परि-णामों कर उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है ।' क्रम तो है ही, और वह भी नियमित, अर्थात् इस द्रव्य में इस समय ऐसी ही पर्याय होगी—यह भी निश्चित् है ।

कोई ऐसा कहे कि—'पर्याय क्रमबद्ध है अर्थात् वह एक के बाद एक क्रमशः होती है—यह ठीक है, किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी वह निश्चित् नहीं है'—तो यह बात सत्य नहीं है । क्रम और

यह भी निश्चित् है; किस समय की पर्याय कैसी होना है वह भी निश्चित् है। यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञ ने जाना क्या? अहो! यह क्रमबद्धपर्याय की बात जिसकी प्रतीति में आये उसके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर मिथ्यात्व का और अनन्तानुबंधीकषाय का नाश हो जाता है; उसके स्वच्छंदता नहीं किन्तु स्वतंत्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवन में प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकस्वभाव का निश्चय प्रथम से ही होना चाहिये।

(१३) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमें एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—"इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड़ जाता है"—किन्तु ऐसा नहीं है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड़ जाता है और निरन्तर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हुई वहाँ एक समय में उस पर्याय में पाँचों समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार में पं. बनारसीदास जी भी कहते हैं कि—

> टेक डारी एक मैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
> खोजी जीवे वादी मरै साँची कहवति है ॥५२॥

दुराग्रह को छोड़कर एक में अनेक धर्मों को ढूंढ़ना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये संसार में जो कहावत है कि "खोजी पावे वादी मरे" सो सत्य है।

(पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव—यह पाँचों समवाय एकसमय की पर्याय में आ जाते हैं।)

(१४) स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा और गोम्मटसार के कथन की संधि

स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में गाथा ३२१-२२-२३ में स्पष्ट कहा

है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस समय वैसा ही होगा, उसे बदलने में कोई समर्थ नहीं है।—जो ऐसा श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शंका करता है वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

जो जीव ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता और मात्र क्रमबद्ध-पर्याय का नाम लेकर स्वच्छन्द से विषय-कषाय का पोषण करता है उसे गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि गिना है; किन्तु निर्मल-ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके जो जीव क्रमबद्धपर्याय को मानता है उस जीव को कहीं भी मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

(१५) एक बार......यह बात तो सुन !

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव, जिसमें भव नहीं है, उसका जिसने निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, उसे भेदज्ञान हुआ, उसने केवली को यथार्थरूप से माना। प्रभु! ऐसा ही वस्तु-स्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है; एकबार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन।

(१६) राग की रुचिवाला क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

प्रश्न:— आप कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय होती है, तो फिर क्रम-बद्धपर्याय में जो राग होना होगा वह होता है ?

उत्तर:— भाई! तेरी रुचि कहाँ अटकी है ? तुझे ज्ञान की रुचि है या राग की ? जिसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई है, वह तो फिर अस्थिरता के अल्पराग का भी ज्ञाता ही है। और 'जो राग होना था वह हुआ'—ऐसा कहकर जो राग की रुचि नहीं छोड़ता वह तो स्वच्छन्दी-मिथ्यादृष्टि है। जो यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझे उसकी तो दृष्टि पलट जाती है।

(१७) उल्टा प्रश्न—'निमित्त न आये तो....?'

'ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आये तो नहीं होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हें क्रमबद्ध-पर्याय की यथार्थ प्रतीति नहीं है। 'क्रमबद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमबद्धपर्याय में जिस समय जो निमित्त है वह भी निश्चित ही है; निमित्त न हों ऐसा होता ही नहीं।

(१८) दो नई बातें !—समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसार की 'शुद्धकारणकार्य' की बात, और दूसरी यह 'क्रमबद्धपर्याय' की बात।—यह दो बातें सोनगढ़ से नई निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं; लोगों में आजकल यह बात प्रचलित नहीं है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की बात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमबद्धपर्याय की बात सूक्ष्म है,—यह बात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है! यह एक क्रमबद्धपर्याय की बात बराबर समझे तो उसमें निश्चय–व्यवहार और उपादान–निमित्त आदि सब स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध और मैं उसका ज्ञायक—यह समझने से सब समाधान हो जाते हैं। भगवान! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता में रुक गया! पर में तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नहीं है; इस ज्ञायकभाव में ही तेरी प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर में विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप हो रहा है

जगत में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनंत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु,—वे सब क्रमबद्धरूप से परिणमित हो ही रहे हैं, मैं उनमें क्या बदल सकता हूँ ? मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन

हो जाता है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह अनादि अनन्त जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप ही रहा है, किन्तु अज्ञानी को मोह द्वारा वह अन्यथा अध्यवसित हुआ है—यह बात प्रवचनसार की २००वीं गाथा में कही है। आत्मा तो ज्ञायक होने पर भी अज्ञानी उसकी प्रतीति नहीं करता, और "मैं पर का कर्ता हूँ"—ऐसा मोह द्वारा अन्यथा मानता है।

(२०) कथंचित् क्रम-अक्रमपना किसप्रकार है?

कोई ऐसा कहता है कि—"जीव की पर्याय में कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं; तथा शरीरादि अजीव की पर्याय में भी कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं।"—वह सारी बात वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से विपरीत है, ज्ञानस्वभाव से विपरीत है और केवली से भी विपरीत है अर्थात् सूत्र से भी विपरीत है। वस्तु में ऐसा क्रम-अक्रमपना नहीं है, किन्तु पर्याय अपेक्षा से क्रमबद्धपना; और गुण सहवर्ती हैं उस अपेक्षा से अक्रमपना—इसप्रकार वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(२१) केवली को मानता है वह कुदेव को नहीं मानता

कोई ऐसा कहता था कि—"जैसा केवली ने देखा वैसा हुआ है, इसलिये जो फिरका (संप्रदाय) मिला और जैसे गुरु मिले (—वे भले ही मिथ्या हों तथापि) उनमें फेरफार करने की उतावल नहीं करना चाहिये; क्योंकि कुदरत के नियम में वैसा आया है इसलिये उसे बदलना नहीं चाहिये।"

—किन्तु भाई! तुझे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है? और कुदरत का नियम अर्थात् वस्तुस्वरूप जम गया है? जिसे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है और वस्तुस्वरूप समझ में आ गया उसके अंतर में गृहीत-मिथ्यात्व रहता ही नहीं; कुधर्म को या कुगुरु को माने ऐसा क्रम उसके होता ही नहीं। इसलिये सम्यक्त्वी

जीव कुधर्म—कुगुरु का त्याग करे तो उससे कहीं उसके पर्याय को क्रमबद्धता टूट जाती है—ऐसा नहीं है। सच्चे पुरुषार्थ में निर्मल क्रमबद्ध पर्याय होती है।

(२२) ज्ञायकस्वभाव

जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न हो–अर्थात् जिस पर्यायरूप से परिणमित हो उसीके साथ वह तन्मय है। अहो! द्रव्य स्वयं उस-उस पर्याय के साथ तन्मय होकर परिणमित हुआ है, वहाँ दूसरा कोई उसे क्या करेगा? आत्मा तो परम पारिणामिक स्वभावरूप ज्ञायक है; ज्ञायकभावरूप रहना ही उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किया वहाँ स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से शुद्ध पर्याय होती जाती है।

(२३) "क्रमबद्ध को नहीं मानता वह केवली को नहीं मानता"

"बस! जैसा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है; हम क्रमबद्ध को नहीं मानते।" ऐसा कहनेवाला केवलीभगवान को भी नहीं मानता, और वास्तव में वह आत्मा को भी नहीं मानता। क्रमबद्ध-पर्याय का अस्वीकार करना वह ज्ञानस्वभाव का ही अस्वीकार करने जैसा है। भाई! यह क्रमबद्धपर्याय कहीं किसीके घर की कल्पना नहीं है, किन्तु वस्तु के घर की बात है; वस्तु का ही स्वरूप ऐसा है। कोई न माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं बदल सकता।

(२४) ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को मोड़े बिना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती

"शुभ–अशुभ भाव भी जैसे क्रमबद्ध थे वैसे आये;" ऐसा कहकर जो जीव राग के पुरुषार्थ में ही अटक रहा है और ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को नहीं मोड़ता, वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है, किन्तु मात्र बातें करता है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से राग की रुचि छूट जाती है और तभी क्रमबद्धपर्याय का

सच्चा निर्णय होता है। भाई! तू किसके समक्ष देखकर क्रमबद्ध-पर्याय मानता है? जिसने ज्ञायकस्वभाव की ओर देखकर क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय किया, वह राग का भी ज्ञाता ही हो गया है; यह राग बदलकर इस समय ऐसा राग करूँ इसप्रकार राग को बद-लने की बुद्धि में से उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया; उसके राग दूर होने का क्रम चालू हो गया है; वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थ से क्रमबद्धपर्याय के क्रम में अल्पकाल में केवलज्ञान भी आयेगा, उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में स्वभाव की दृष्टि से प्रयत्न चालू ही है, वह ज्ञान की अधिकता रूप ही अर्थात् भूतार्थ के आश्रित ही परिणमित होता है; उसमें न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसार की २०२वीं गाथा में पं. हेमराजजी कहते हैं कि —विभावपरिणति को छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल-व्याकुल भी नहीं होता और समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता; भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके वर्तता है उसमें उसे पुरुषार्थ बना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमें आ जाते हैं।

(२५) अपने–अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं...

प्रवचनसार गाथा ९९ "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं..." इत्यादि में आचार्यदेव ने क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत अलौकिक रीति से रख दिया है। हार के मोती के दृष्टांत से, द्रव्य के परिणाम अपने–अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं—यह बात समझाकर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है। और एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव होने पर भी उन तीनों का भिन्न–भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय, नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित है; उत्पाद, उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है और ध्रौव्य स्थित रहनेवाले

भाव के आश्रित है।—इसप्रकार प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रुव कहकर उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की साँकल बना ही है। (देखो गाथा १०१)

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो! भगवन्तों ने जंगल में निवास करके, अपने ज्ञान में वस्तु-स्वरूप को ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत् का ज्ञेय पिण्ड जगत में पड़ा है और दूसरी ओर उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवांतरसत्ता सत्, जड़–चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाह में उसके अपने स्वकाल से सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत्।—इसप्रकार सब क्रमबद्ध और व्यवस्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ अपने को ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि दूर हो गई। सत् का ज्ञाता न रहकर उस सत् को बदलना चाहे वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है? ज्ञाता का ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभाव सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(१) स्वभाव की ओर का सम्यक् "पुरुषार्थ" आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है वह स्वभाव में से हुई है, इसलिये "स्वभाव" भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होना थी वही प्रगटी है, इसलिये "नियत" भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है वही उस समय का स्वकाल है, इसप्रकार स्वकाल भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वयं वर्तते हैं, इसप्रकार "कर्म" भी अभावरूप निमित्तरूप से आ गया

—उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादि में भी क्रमबद्धपर्याय का नियम

कर्म को उपशम, उदीरणा, संक्रमणादि अवस्थाओं का शास्त्र में वर्णन आता है, वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही हैं; शुभभाव से जीव ने असाता प्रकृति का साता रूप से संक्रमण किया—ऐसा कथन आता है, परंतु वहाँ, कर्म को वह अवस्था होना नहीं थी और जीव ने की—ऐसा नहीं है; किन्तु वैसी अवस्था होने के समय जीव के वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नहीं है। जीव ने शुभभाव किये और कर्म में असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्म की अवस्था में फेरफार तो हुआ है, किन्तु उससे कहीं उसकी अवस्था का क्रम नहीं टूटा है; और जीव ने शुभभाव करके उस अजीव में फेरफार किया—ऐसा भी नहीं है; असाता बदलकर साता हुई वहाँ ऐसा ही उस अजीव की अवस्था का क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते हैं कि—जीव सब छोड़कर चला गया; किन्तु वहाँ उसने कहीं जीवत्व छोड़ा है? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न! जिसप्रकार जीव जीवरूप से सत् रहा है उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी उस उस समय का सत् है, वह बदलकर दूसरे समय की पर्यायरूप नहीं हो जाती।

(३०) ज्ञायक के निर्णय विना सब पढ़ाई उल्टी है

मैं ज्ञान हूँ—ज्ञायक हूँ ऐसा न मानकर पर में फेरफार करना

मानता है वह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई! आत्मा ज्ञान है–इस बात के निर्णय बिना तेरी सब पढ़ाई उल्टी है; तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत हैं। ज्ञानस्वभाव की गम पड़े बिना आगम भी अनर्थकारी हो जाते हैं। शास्त्र में निमित्त से कथन आये वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उल्टा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

(३१) "मैं तो ज्ञायक हूँ"

सब जीवों की पर्याय क्रमबद्ध है तो मैं किसे बदल सकता हूँ? सर्व अजीवों की पर्याय भी क्रमबद्ध है तो मैं किसे पलट सकता हूँ? —मैं तो ज्ञायक हूँ; ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसीको बदलनेवाला नहीं हूँ। किसीका दुःख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ यह बात मुझमें नहीं है—इसप्रकार अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सब बात को बदलकर यह बात समझना पड़ेगी

सोलापुर में अधिवेशन के समय विद्वत्परिषद ने इस क्रमबद्ध-पर्याय के सम्बन्ध में चर्चा उठाई थी. किन्तु उसका कोई निर्णय नहीं आया; ज्यों का त्यों गीला ही समेट लिया; क्योंकि जो इस बात का निर्णय करने लगें तो, निमित्त के कारण कहीं फेरफार होता है—यह बात नहीं रहती और अभी तक का रटा हुआ सब बदलना पड़ता है। किन्तु वह सब बदलकर, क्रमबद्धपर्याय जिस प्रकार कही जाती है उसका निर्णय किये बिना किसी प्रकार श्रद्धा–ज्ञान सच्चे नहीं हो सकते।

(३३) क्रमबद्ध परिणमित होने वाले ज्ञायक का अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है; ज्ञान उसका परम स्वभाव है; और ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण

रहते हैं। द्रव्य परिणमित होने से उन समस्त गुणों का क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है इसलिये उसका स्वभाव स्वपर को जानने का है; पर को करे या राग द्वारा पर का कारण हो ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, और पर उसका कुछ करे या स्वयं पर को कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नहीं है; इस प्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में यह क्रमबद्धपर्याय की बात लेकर आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है, अर्थात् जीव ज्ञायक ही है—ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनंत गुणों की समय-समय की पर्यायें क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीव के साथ एकमेक हैं। तीनकाल की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में ही उत्पन्न होती है, कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी उत्पन्न नहीं होती।

(३४) पुरुषार्थ का महान प्रश्न

इसमें महान प्रश्न यह है कि—"तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा?"

समाधान :— यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा, इसलिये पर में फेरफार करने की बुद्धि से हटकर पुरुषार्थ का बल स्वभाव की ओर ढल गया। इसप्रकार ज्ञान के साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञान की क्रमबद्धपर्याय के साथ स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ भी साथ ही वर्तता है; क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहीं पृथक् नहीं रह जाता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ वहाँ उसके साथ वीर्य, सुख, श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण एकसाथ ही परिणमित होते हैं इसलिये इसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(३५) "ज्ञापक" और "कारक"

अनादि-अनंतकाल में किस समय किस द्रव्य की कैसी पर्याय है

वह सर्वज्ञदेव ने वर्तमान में प्रत्यक्ष जान लिया है; किन्तु सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा नहीं है; किन्तु उस-उस समय की निश्चित् क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने का द्रव्यों का ही स्वभाव है। सर्वज्ञ का केवलज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् बतलानेवाला है, वह कहीं पदार्थों का कारक नहीं है। छहों द्रव्य ही स्वयं अपने-अपने छह कारकरूप से परिणमित होते हैं।)

❁ दूसरा प्रवचन ❁

[आश्विन कृष्णा १३, वीर सं. २४८०]

> पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना शुद्धपर्याय कभी नहीं होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं।

(३६) जिसका पुरुषार्थ ज्ञायक की ओर ढला उसीको क्रमबद्ध की श्रद्धा हुई

"अहो! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है;—ऐसे निर्णय का अन्तर में प्रयत्न करे उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से ऐसा ही जाना है। जिस जीव ने अपने ज्ञान में ऐसा निर्णय किया उसे सर्वज्ञ से विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित्त के कारण कुछ फेरफार होता है या राग से धर्म होता है—ऐसा मनानेवाले) कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की मान्यता छूट गई है; उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभाव की ओर ढला है और उसीको सर्वज्ञदेव की तथा क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेव को न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्याय को वर्तमान में नहीं जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी तब वे उसे जानेंगे!"—तो ऐसा कहनेवाले को सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नहीं रही। भाई रे! भविष्य के परिणाम होंगे तब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नहीं है, सर्वज्ञदेव को तो पहले से ही तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना हो सकता है ऐसा मानना है तो यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय का निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है, यह नियम है।

जीव-अजीव के सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं वैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं और सूत्र में भी वैसे ही बतलाये हैं; इसलिये आचार्यदेव ने गाथा में कहा है कि—"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते......" जीव-अजीव के क्रमबद्ध परिणाम जैसे हैं वैसे ही उसी सब प्रकारों के सर्वज्ञदेव ज्ञाता हैं, किन्तु उनके कारक नहीं हैं।

(३८) जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता वह केवली आदि को भी नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है; जीव में अनन्त गुण होने से एक समय में उन अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम होते हैं; उनमें प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं।—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान स्वसन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ; वहाँ, साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ उसकी क्रमबद्ध-पर्याय ऐसी ही है कि उससमय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम में फेरफार करना माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता;

केवलीभगवान को भी वह नहीं मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं उन्हें भी वह नहीं जानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया उसे सम्यग्दर्शनादि हुए हैं, और उसीने वास्तव में केवलीभगवान को, उनके शास्त्रों को और गुरु को माना है।

(३९) पर्याय क्रमवद्ध होने पर भी, पुरुषार्थी को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ को बात है। "क्रमबद्धपर्याय" का ऐसा अर्थ नहीं है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायों में वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय में वर्तता हो तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय में सम्यग्दर्शनादि हो जायें—ऐसा कभी नहां होता। जो कुधर्म को मानते हैं, तीव्र विषय-कषाय में वर्तते हैं, या एकेन्द्रिय में पड़े हैं, उन्हें कहाँ अपने ज्ञान-स्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है? पर्याय क्रमवद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुषार्थ बिना कदापि शुद्धपर्याय नहीं होतो। ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और जो वैसा पुरुषार्थ नहीं करता उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमें सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रम-बद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। जो जीव कुदेव को, कुगुरु को, कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायों में वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नहीं है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जबतक कुदेव–कुधर्म आदि को माने तबतक उसकी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नहीं सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यता-

वाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते हैं; एकेन्द्रिपना आदि पर्याय में उसप्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नहीं होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की उसे सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसीने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ रूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान में शक्ति नहीं है, उस जीव में ज्ञायकस्वभाव का और अनंत गुणों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी? और यथार्थ निर्णय के विना क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता हो जाये—ऐसा नहीं होता।

(४०) "अनियतनय" या "अकालनय" के साथ क्रमबद्धपर्याय का विरोध नहीं है

प्रवचनसार के परिशिष्ट के ४७ नयों में २७ वें अनियतनय से आत्मा को "अनियत" कहा है, परंतु अनियत अर्थात् अक्रमबद्ध—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। वहाँ पानी की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया है कि जिसप्रकार उष्णता पानी का नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है, इसलिये उस विकार की अपेक्षा से आत्मा को अनियत कहा है। इसीप्रकार ३१वें बोल में वहाँ "अकालनय" कहा है, उसमें भी कहीं इस क्रमबद्धपर्याय के नियम से विरुद्ध बात नहीं है; कहीं क्रमबद्धपर्याय को तोड़कर वह बात नहीं है। (इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझ के लिये आत्मधर्म में प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेव के प्रवचन पढ़ें।)

(४१) जैनदर्शन की मूलवस्तु का निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है उसका पहले बराबर निर्णय करना चाहिए। आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव क्या है? और ज्ञेय पदार्थों

का क्रमबद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णय में विश्वदर्शनरूप जैन-दर्शन का निर्णय आ जाता है; किन्तु अज्ञानियों को उसका निर्णय नहीं है।

देखो, यह मूलवस्तु है; इसका पहले निर्णय करना चाहिये। इस मूलवस्तु के निर्णय बिना धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई आदमी किसी दूसरे आदमी के पास पाँचहजार की उगाही के लिये जाये; वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी—अच्छी मिठाइयों का भोजन कराये; किन्तु लेनदार कहे कि भाई ! भोजन की बात पीछे, पहले मुख्य (मूल) बात करो, यानी मैं पाँचहजार रुपये लेने आया हूँ; उनकी पहले व्यवस्था कर दो;—इस प्रकार वहाँ भी मुख्य बात पहले करते हैं; उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों की पर्याय का क्रमबद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नहीं करता, और "ऐसा निमित्त चाहिये तथा ऐसा व्यवहार चाहिये"—इसप्रकार व्यवहार की रुचि में रुक जाता है उसका किंचित् भी हित नहीं होता। अहो ! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल बात जिसकी प्रतीति में आ गई उसे क्रमबद्धपर्याय जमे बिना नहीं रहेगी; और जहाँ यह बात जमी वहाँ सब स्पष्टीकरण हो जाते हैं।

(४२) हार के मोतियों के दृष्टान्त द्वारा क्रमबद्धपर्याय की समझ; और ज्ञान को सम्यक् करने की रीति

प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में लटकते हुए हार का दृष्टान्त देकर उत्पाद–व्यय–ध्रुव सिद्ध किये हैं; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हार के मोतियों में पीछे पीछे के स्थानों में पीछे पीछे के मोतियों के प्रगट (प्रकाशित) होने से और आगे आगे के मोतियों के प्रगट नहीं होने से प्रत्येक मोती अपने–अपने स्थान में प्रकाशित है; उसमें आगे-आगे के स्थान में

आगे–आगे का मोती प्रकाशित होता है और पीछे–पीछे के मोती प्रकाशित नहीं होते; उसी प्रकार लटकते हुए हार की भाँति परिणमित द्रव्य में समस्त परिणाम अपने-अपने अवसरों में प्रकाशित रहते हैं; उसमें पीछे–पीछे के अवसरों में पीछे–पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं और आगे-आगे के परिणाम प्रगट नहीं होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका।) लटकते हुए हार के डोरे में उसका प्रत्येक मोती यथास्थान क्रमबद्ध जमा हुआ है; यदि उसमें उल्टा–सीधा करने जाये—पाँचवें नम्बर का मोती हटा कर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये—तो हार का डोरा टूट जायेगा, इसलिये हार की अखण्डता नहीं रहेगी। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक द्रव्य झूलता अर्थात् परिणमनशील है। अनादि-अनन्त पर्यायरूप मोती क्रमबद्ध जमे हुए हैं; उसे न मानकर एक भी पर्याय का क्रम तोडने जाये तो गुण का और द्रव्य का क्रम टूट जायेगा, अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ; मैं निमित्त बनकर किसीकी पर्याय में फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है;—इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है, और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमबद्धपर्याय को यथार्थतया जानता है।—इसप्रकार अभी तो ज्ञान को सम्यक् करने की यह रीति है; इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

(४३) ज्ञायकभाव का परिणमन करे वही सच्चा श्रोता

इस क्रमबद्धपर्याय के विषय में आजकल बड़ी गड़बड़ी शुरू हुई है, इसलिये यहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। अभी तो जिसे इस बात के श्रवण का भी प्रेम न आये वह अन्तर में पात्र होकर परिणमित कहाँ से करेगा? और अकेले श्रवण का प्रेम करे किन्तु स्वच्छन्द टालकर अंतर में ज्ञायकभाव का परिणमन न करे तो उसने भी वास्तव में यह बात नहीं सुनी है। यही बात समयसार की चौथी गाथा में आचार्यदेव ने रखी है;- वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त

शुद्धात्मा का श्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया है; अनन्तबार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जाकर दिव्यध्वनि सुन आया, तथापि आचार्य भगवान कहते हैं कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्मा की बात का श्रवण किया ही नहीं; क्यों ? क्योंकि अंतर में उपादान जागृत करके उस शुद्धात्मा की रुचि नहीं की इसलिये उसके श्रवण में निमित्तपना भी नहीं आया।

(४४) जहाँ स्वच्छन्द है वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है

प्रश्न :— क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम में से स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तर:—ऐसा हो ही नहीं सकता। भाई ! जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे उसके पर्याय में स्वच्छन्द का क्रम रह ही नहीं सकता; क्योंकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञान-स्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नहीं है; क्योंकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नहीं समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की वहाँ तो अनंतगुणों का अंश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है; श्रद्धा में सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनंद के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का अंश स्वोन्मुख हुआ,—इसप्रकार समस्त गुणों की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नहीं हुए हैं, आनंद का भान नहीं है; वीर्यबल अन्तर्स्वभावोन्मुख नहीं हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है। क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है; श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनंद और वीतरागता का अंश प्रगट हुआ है, इसलिये वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नहीं। साधकदशा

में अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नहीं होता। और जो राग है उसका भी परमार्थतः तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमें भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो—यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्ध-पर्याय की श्रद्धावाले को हठ भी नहीं रहती और स्वच्छन्द भी नहीं रहता। सम्यक्‌श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण कर लेना चाहिये—ऐसी हठ नहीं होती; और चाहे जैसा राग हो उसमें कोई हर्ज नहीं है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता; ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी में अपना ही अपराध मानता है; किसी अन्य का दोष नहीं मानता।

(४५) यह समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें

आजकल उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार की बड़ी उलझनें चल रही हैं; यदि यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप बराबर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। "द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम-रूप से उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा उसमें उस-उस पर्याय का क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समय की पर्याय अपने–अपने क्षणिक उपादान से ही क्रमबद्धरूप से—नियमितरूप से उत्पन्न होती है; अपने परिणामों से ही अर्थात् उस समय की क्षणिक योग्यता से ही उत्पन्न होती है, निमित्त से उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक गुण में अपने-अपने क्षणिक उपादान से क्रमबद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं; —इस प्रकार अनंत गुणों के अनंत परिणाम एक समय में उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमबद्धपना कहा जाता है वह "उद्धर्वता सामान्य" की अपेक्षा से अर्थात् कालप्रवाह की अपेक्षा से कहा जाता है।

(४६) वज्रभींत जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करके एकबार वज्रभींत जैसा

यथार्थ निर्णय तो कर। वज्रभींत जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य नहीं चलेगा। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति में निरंतर ज्ञान की अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान बिना अनादि से स्व-पर के स्वरूप को भूलकर पर का मैं करूँ और पर को बदल दूँ ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमण के कारणरूप है।

(४७) केवली की भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है; ज्ञान किसे बदलेगा? जिस प्रकार केवलीभगवान जगत के ज्ञाता–दृष्टा ही हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समय में परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है। किंतु अपने ज्ञाता–दृष्टापने की प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव संसार में भटक रहा है। अल्प और अधिक ऐसे भेद को गौण कर डाले तो सर्व जीवों में ज्ञान का एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं और जानने का ही कार्य करते हैं; किंतु ज्ञानरूप से अपना अस्तित्व है उसे प्रतीति में न लेकर, ज्ञान के अस्तित्व में पर का अस्तित्व मिलाकर पर के साथ एकत्व मानता है, पर से लाभ–हानि मानता है वही दुःख और संसार है।

(४८) निमित्त वास्तव में कारक नहीं किन्तु अकर्ता है

"सर्वज्ञभगवान को तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' हैं इसलिये वे पर में कुछ भी फेरफार नहीं करते, यह बात ठीक है; किंतु यह जीव तो निमित्तरूप से कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थों में फेरफार—उल्टासीधा कर सकता है?"—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नहीं है। ज्ञायक हो या कारक हो, किंतु पदार्थ की क्रमबद्धपर्याय को बदलकर कोई उल्टी–सीधी नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वयं ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप

से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तव में कारक नहीं किंतु अकारक है; अकारक को कारक कहना वह उपचारमात्र है; इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ता को कर्ता कहना वह उपचार है—व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया? ज्ञान-स्वभाव के सन्मुख होकर स्वयं ज्ञायक हुआ तभी भगवान के ज्ञायक-पने का यथार्थ निर्णय हुआ।

(५०) पर्याय में अनन्यपना होने से, पर्याय के बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्की के निचले पाट की भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—"दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं" द्रव्य अपने जिन गुणों से जिन क्रमबद्धपरिणामोंरूप उत्पन्न होता है उनमें उसे अनन्य जान। इसलिये, अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य गुण तो "चक्की के निचले पाट की भाँति" सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं—ऐसा नहीं है। पर्याय के बदलने से उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य-गुण उत्पन्न होते हैं। पहले समय की पर्याय में जो द्रव्य-गुण अनन्य थे वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समय की पर्याय में अनन्य हैं। पहले समय में पहली पर्याय का जो कर्ता था वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय का कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ता की भाँति कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण—इन सब कारकों में प्रतिसमय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नहीं रहा; पर्याय के बदलने से कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता-कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूप में थे उसी स्वरूप में दूसरे समय नहीं रहे। पहले समय में

पहली पर्याय के साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था, और दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्याय का कर्तृत्व हुआ। इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से, नई नई पर्यायों के साथ तद्रूप होता–होता सारा द्रव्य प्रतिसमय पलट रहा है; द्रव्य–अपेक्षा से ध्रुवता है।) यह कुछ सूक्ष्म बात है।

प्रवचनसार की ९३वीं गाथा में भी कहा है कि—"तेहिं पुणो पज्जाया..." द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। द्रव्य के परिणमित होने से उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूप से साथ ही परिणमित हो जाते हैं। पर्याय में अनन्यरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से, पर्याय के परिणमित होने से द्रव्य भी परिणमित हुआ है —यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्याय से छूटकर दूसरी पर्याय के साथ वह कैसे तद्रूप होगा? पर्याय के बदलने पर यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा!—इसलिये दूसरी पर्याय के साथ उसकी तद्रूपता हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा नहीं होता; पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये ऐसा नहीं होता।

कोई ऐसा कहे कि—"पहले समय की जो पर्याय है वह स्वयं ही दूसरे समय की पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नहीं होता"—तो यह बात असत्य है। पहली पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती; पर्याय में से पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवाले को तो "पर्यायमूढ़" कहा है। पर्याय के पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षा से) पलट गये हैं। यदि ऐसा न हो तो समय–समय की नई पर्याय के साथ द्रव्य का तद्रूपपना सिद्ध नहीं हो सकता। "सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है"—ऐसा कह कर आचार्यदेव ने अलौकिक नियम दिखा दिया है। श्री दीपचंद जी कृत चिद्विलास में भी यह बात की है।

(५१) जीव का सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ, उसमें तन्मयरूप से जीव ही है, अजीव नहीं है। अजीव के या राग के आश्रय से उत्पन्न हो ऐसा जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। और क्रमबद्ध-परिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है। "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्त के कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीव को उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने जीव के जीवन को नहीं जाना है। जीव का जीवन तो ऐसा है कि पर के कारण-कार्य विना ही स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप...समभावी सूर्य है,—ऐसे स्वभाव को जो नहीं जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तृत्व मानता है—पर में उलटा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तव में माना ही नहीं है; ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्व को उसने जाना ही नहीं है। कर्तृत्व मानकर कहीं भी फेरफार करने गया वहाँ स्वयं ज्ञातारूप से नहीं रहा, और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है उसे नहीं माना; इसलिये अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह ज्ञाता है—अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसे विपरीतदृष्टि में क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है; पर की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है; ऐसी दृष्टि प्रगट किये विना यह बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकती।

(५३) ज्ञायक के लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानी का जो प्रवाह है वह उलटा-सीधा नहीं होता; पहले का पीछे और पीछे का आगे—ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि-अनन्त पर्यायों के प्रवाहक्रम को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है; उस प्रवाहक्रम में जिस-जिस पर्याय को वह द्रवित होता है उस—उस पर्याय के साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकान के खिड़की—दरवाजे नियत हैं; छोटे—बड़े अनेक खिड़की—दरवाजों में जिस स्थान पर जो खिड़की या दरवाज़ा लगाना हो वही बराबर बैठता है; बड़ा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजे की जगह लगा दें तो उस बड़े दरवाजे की जगह क्या लगायेंगे ? बड़े दरवाजे की जगह कहीं छोटा दरवाजा फिट नहीं हो सकता, वहाँ तो बढ़ई प्रत्येक खिड़की—दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बर में गड़बड़ी हो जाये तो खिड़की—दरवाजों का मेल टूट जाता है। उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं; उन पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय में जिस पर्याय का जो स्थान (—स्वकाल) है वह आगे—पीछे नहीं होता। यदि एक भी पर्याय के स्थान को (प्रवाहक्रम को) बदलकर इधर—उधर करने जायें तो कोई व्यवस्था ही न रहे; क्योंकि एक पर्याय को बदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थान की पर्याय को बदलकर तीसरे स्थान पर रखना पड़ेगी—इसप्रकार सारा द्रव्य ही छिन्नभिन्न हो जायेगा,—अर्थात् उस जीव की दृष्टि में द्रव्य खण्ड—खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा; सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नहीं होगी। "मैं ज्ञायक हूँ",—इस बात का जबतक लक्ष न हो तबतक एक भी सच्चा न्याय समझ में नहीं आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित हैं। जैसे पदार्थ हैं वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है वैसे

ही पदार्थ हैं, तथापि किसी के कारण कोई नहीं है—ऐसा वस्तुस्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ वह राग का भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञान का ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है उसे अपने ज्ञान का ही विश्वास नहीं है।

(५४) "पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित ?"

भाई, तू ज्ञान है; ज्ञान क्या करता है? वस्तु जैसी हो वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जानने का है। तू विचार तो कर कि पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमें कहीं भी फेरफार करना नहीं रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है; और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञान ने जाना क्या? पदार्थों का परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा; क्योंकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवान ने जाना क्या? इसलिये न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्मा का ज्ञानस्वभाव! ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्म का अंश भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध है, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूप से ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है

कोई कहे कि "कभी जीव क्रमबद्धपरिणामरूप से परिणमित होता है और कभी अक्रमरूप से भी; उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमबद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूप से भी परिणमित कर देता है।"—ऐसा नहीं है। भाई! जीव या अजीव किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि अक्रमरूप से परिणमित हों। केवलज्ञान चौथे गुणस्थान में हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थान में हो—ऐसा कभी नहीं होता; पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर

मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नहीं होता; ऐसा ही वस्तु के परिणमन का स्वभाव है। धर्मी के स्वभावदृष्टि में ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ चालू ही है; ज्ञान में धैर्य है, चारित्र में अल्पराग होता है उसे भी जानते हैं; किन्तु उन्हें आकुलता नहीं है, उतावल नहीं है, हठ नहीं है; वह तो क्रमबद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है

जिसप्रकार जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसीप्रकार अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है। यह शरीर हिले-डुले, भाषा बोली जाये, वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्यायें हैं। उसमें जिस समय जो पर्याय होती है वह उसके अपने से ही होती है, उस पर्यायरूप से वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, जीव उसका कारण नहीं है, और न वह जीव का कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीव में भी है, और अजीव में भी है, इसलिये उन्हें परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नहीं है;—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर यहाँ आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाना है।

(५७) सर्व द्रव्यों में "अकार्यकारणशक्ति।"

सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पादक—उत्पाद्यभाव का अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्यों को पर के साथ अकार्यकारणपना है। इसप्रकार "अकार्यकारणशक्ति" सभी द्रव्यों में है। अज्ञानी कहते हैं कि "अकार्यकारणशक्ति तो सिद्ध में ही है और संसारी जीवों को तो पर के साथ कार्य-कारणपना है"—यह बात झूठ है।

(५८) पुद्गल में क्रमबद्धपर्याय होने पर भी......

पुद्गल में कर्म आदि की अवस्था भी क्रमबद्ध है; पुद्गल में वह

अवस्था होना नहीं थी और जीव ने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की ऐसा नहीं है। पुद्गलकर्म में उपशम–उदीरणा–संक्रमण–क्षय इत्यादि जो अवस्थायें होती हैं उन अवस्थाओंरूप से पुद्गल स्वयं क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ जगत में ऐसी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतावाले कोई परमाणु ही नहीं हैं कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृति रूप से बँधें। मिथ्यात्वप्रकृति के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध ही उसे ज्ञायक-दृष्टि में से छूट गया है।—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में बड़ी अच्छी तरह समझायेंगे।

(५९) क्रमबद्धपर्याय को न समझनेवाले की कुछ भ्रमणायें

अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिये उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है वैसी क्रमबद्ध होती रहती है; किन्तु जीव की अवस्था क्रम-बद्ध नहीं होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है—ऐसा कोई माने तो वह बात असत्य है।

अजीव में ज्ञान नहीं है, इसलिये जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे वैसी कर सकता है, इसलिये उसकी अवस्था क्रमबद्ध नहीं है किन्तु अक्रम है; पानी भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे वैसे रंग का हो जायेगा—ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है इसलिये हमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिये—ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञातामात्रपने का पुरुषार्थ आ जाता है उसे वह नहीं समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय होता है, वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थों में क्रमबद्धपरिणाम

न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव न तो वस्तुस्वरूप को जानता है, और न पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को ही वास्तव में मानता है।

(६०) जीव के कारण बिना ही अजीव की क्रमबद्धपर्याय

शरीर की अवस्था भी अजीव से होती है। मैं उसकी अवस्था को बदलूँ अथवा तो अनुकूल आहार–विहार का बराबर ध्यान रखकर शरीर को अच्छा कर दूँ—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहार के एक रजकण को भी बदलना वह जीव की क्रिया नहीं है। "दाने–दाने पर खानेवाले का नाम"—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है ?—कि जिसके पेट में जो दाना आना है वही आयेगा; जीव उसका ध्यान रखकर शरीर की रक्षा कर दे —ऐसा नहीं है। जीव के कारण बिना ही अजीव अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होने का है।

"अरे! इस शरीर का कोई अंग जिस तरह ऊँचा–नीचा करना हो वैसा हम कर सकते हैं; तो क्या हममें इतनी शक्ति नहीं है कि परमाणु को बदल सकें ?"—ऐसी दलील अज्ञानी करते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! क्या परमाणुओं में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे अपने क्रमबद्धपरिणामों से ऊँचे–नीचे हों ? क्या अजीव द्रव्यों में शक्ति ही नहीं है ? भाई! अजीव में भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपने के विना ही वह स्वयं अपनी हलन-चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्था में वह तद्रूप है; उसमें कुछ भी फेरफार करने की शक्ति जीव में नहीं है।—जीव में उसे जानने की शक्ति है। इसलिये तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर और अजीव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड़।

❀ तीसरा प्रवचन ❀

[आश्विन कृष्णा १४, वीर सं. २४८०,]

जिसे समझने से आत्मा का हित हो ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यहाँ "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतंत्रता बतलाई जाती है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है —प्रिय नहीं है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है।

(६१) अधिकार की स्पष्टता

यह सर्वविशुद्ध-ज्ञान-अधिकार है; "सर्वविशुद्धज्ञान" यानी अकेला ज्ञायकभाव। ज्ञायकस्वरूप जीव कर्म का कर्ता नहीं है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। क्रमबद्धपर्याय के वर्णन में आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है। आत्मा निमित्तरूप से भी जड़कर्म का कर्ता नहीं है—ऐसा उसका स्वभाव है।

(६२) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणों के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है, और उन परिणामों में अनन्यरूप से वह जीव ही है, अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनंत परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य में कारण नहीं है और कोई पर उसके कार्य में कारण नहीं है; किसीके कारण किसीकी अवस्था के क्रम में फेरफार हो—ऐसा कभी नहीं होता। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है,

किन्तु पर्याय को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों ली ?

किसी को ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना है, उसमें यह क्रमबद्धपर्याय की वात क्यों की ?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वयं अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होते हैं—यह बात जमे बिना, "मैं पर को बदल दूँ"—ऐसी कर्ताबुद्धि नहीं छूटती और अकर्तृत्व नहीं होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना—ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभाव से तो सर्व आत्मा अकर्ता ही हैं, किन्तु यह तो पर्याय में अकर्तापना हो जाने की बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों ?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है, तो फिर शास्त्र में इतना अधिक उपदेश क्यों दिया है ?—ऐसा कोई पूछे, तो कहते हैं कि भाई ! उस सब उपदेश का तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कराना है। उपदेश की वाणी तो वाणी के कारण क्रमबद्ध निकलती है। इससमय ऐसी ही भाषा निकालकर मैं दूसरों को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के नहीं है।

(६५) वस्तुस्वरूप का एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने-अपने परिणाम के कर्ता हैं, किसी अन्य का हस्तक्षेप उसमें नहीं है। "ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा"—ऐसा वस्तुस्वरूप में

नहीं है। वस्तुस्वरूप का एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ स्वयं ही अपनी पर्याय का कर्ता है, और दूसरे से वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होती है—ऐसा न मानकर; दूसरा उसमें फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है उसे पर में फेरफार करने की बुद्धि रहती है, इसलिये पर की ओर से हटकर वह अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता, इसलिये उसे ज्ञातापना नहीं होता—अकर्तापना नहीं होता और कर्तृत्वबुद्धि नहीं छूटती यहाँ "प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नहीं है"—इस नियम के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि को छुड़ाते हैं।

(६६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहे वह महान-स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर कोई स्वच्छन्द से ऐसा बचाव करे कि "हमें क्रोध होना था वह क्रमबद्ध हो गया, उसमें हम क्या करें?" तो उससे कहते हैं कि अरे मूढ़ जीव! अभी तुझे आत्मा के ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं हुई तो तू क्रमबद्धपर्याय की बात कहाँ से लाया! ज्ञायकस्वभाव के निर्णय से ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या क्रोध पर? यदि ज्ञायक पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायक में क्रोध होना कहाँ से आया? अपने ज्ञायकभाव का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञायक को ज्ञान का ज्ञेय बनाना—उसीको इसमें मुख्यता है, राग को ज्ञेय करने की मुख्यता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया वहाँ ज्ञान की ही अधिकता रहती है—क्रोधादि की अधिकता कभी भी नहीं होती, इसलिये ज्ञाता को अनन्तानुबंधी क्रोधादि होते ही

नहीं; और उसीको क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हुई है।

क्रोध के समय जिसे ज्ञानस्वरूप का तो भास नहीं होता उसे क्रोध की ही रुचि है, और क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहता है वह तो महान स्वच्छंदी है। क्रमबद्धपर्याय में ज्ञायकभाव का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादिकषाय का परिणमन भासित होता है यही उसकी विपरीतता है। भाई रे! यह मार्ग तो छुटकारे का है या बंधन का? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके छुटकारे की बात है; इस बात का यथार्थ निर्णय होने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो छुटकारे का मार्ग है उसके बहाने स्वच्छंद का पोषण करता है उस जीव को छुटकारे का अवसर कब आयेगा!!

(६७) अजर प्याला!

यह तो अजर-अमर प्याला है; इस प्याले को पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया वह अजर-अमर हो जाता है, अर्थात् जन्म-मरण रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

(६८) क्रमबद्धपर्याय में भूमिकानुसार प्रायश्चितादि का भाव होता है

"लगे हुए दोषों का प्रायश्चित करने का वर्णन तो शास्त्र में बहुत आता है; दोष हुआ वह पर्याय भी क्रमबद्ध है, तब फिर उसका प्रायश्चितादि किसलिये?"—ऐसी किसीको शंका हो तो उसका समाधान यह है कि—साधक को उस-उस भूमिका में प्रायश्चितादि का वैसा विकल्प होता है उसका वहाँ ज्ञान कराया है। साधकदशा के समय क्रमबद्धपर्याय में उस प्रकार के भाव आते हैं वह बतलाया है। "हमें क्रमबद्धपर्याय में दोष होना था वह हो गया, उसका प्रायश्चित क्या करें?"—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि

स्वच्छंदी है; साधक को ऐसा स्वच्छंद नहीं होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है; उसे अभी वीतरागता नहीं हुई है और स्वच्छंद भी नहीं रहा है, इसलिये दोषों के प्रायश्चितादि का शुभविकल्प आये—ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में ऐसा भाव आता है कि मैं चारित्रदशा लूँ; मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषों की गुरु के निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित लूँ—"कर्म तो जब खिरना होंगे तब खिरेंगे, इसलिये अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है?"—ऐसा विकल्प मुनि को नहीं आता; किन्तु ऐसा भाव आता है कि मैं तप द्वारा निर्जरा करूँ—शुद्धता बढ़ाऊँ।—ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। "चारित्रदशा तो क्रमबद्धपर्याय में जब आना होगी तब आ जायेगी"—ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छंदी या प्रमादी नहीं होता; द्रव्यदृष्टि के बल में उसका पुरुषार्थ चलता ही रहता है। वास्तव में द्रव्यदृष्टिवाले को ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूप से समझ में आती है। क्रम बदलता नहीं है, तथापि पुरुषार्थ की धारा नहीं टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि बिना नहीं हो सकती। शास्त्रों में प्रायश्चित आदि का वर्णन करके मध्यम भूमिका में कैसे-कैसे भाव होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। वास्तव में तो ज्ञाता को ज्ञान की अधिकता में उन प्रायश्चितादि का विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६९) क्रम-अक्रम सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि—"सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं—ऐसा कहने में तो एकान्त हो जाता है; इसलिये कुछ पर्यायें क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमबद्ध हैं—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिये;"—तो ऐसा कहनेवाले को एकान्त अनेकान्त की खबर नहीं है। सभी पर्यायें क्रमबद्ध

ही "है" और अक्रमरूप "नहीं है"—ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम-अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इसप्रकार है कि सर्व गुण द्रव्य में एक साथ सहभावीरूप से वर्तते हैं, इसलिये उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रम-रूप ही है और पर्याय-अपेक्षा से क्रमरूप ही है,—इसप्रकार ही कथंचित् क्रमरूप और कथंचित् अक्रमरूप—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्यायें क्रमरूप और कुछ पर्यायें अक्रमरूप—ऐसा मानना तो अनेकान्त नहीं किन्तु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय-अपेक्षा से तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है; तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी आ जाती है। गुणों की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायों की अपेक्षा से क्रमपना—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है, वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु में (१) स्यात् क्रमपना, (२) स्यात् अक्रमपना, (३) स्यात् क्रम-अक्रमपना, (४) स्यात् अव-क्तव्यपना, (५) स्यात् क्रम-अवक्तव्यपना, (६) स्यात् अक्रम-अवक्त-पना, और (७) स्यात् क्रम-अक्रम-अवक्तव्यपना,—इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्ध में सप्तभंगी भी उतरती है; किस प्रकार? वह कहा जाता है—

(१) पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं, इसलिये पर्यायों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एक साथ सहभावी हैं; इसलिये गुणों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण—इन दोनों की अपेक्षा से (एक साथ) लेकर कहने पर वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(४) एक साथ दोनों नहीं कहे जा सकते उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है।

(५) वस्तु में क्रमपना और अक्रमपना दोनों एक साथ होने पर भी क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस

अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनों अनुक्रम से कहे जा सकते हैं किन्तु एक साथ नहीं कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इसप्रकार क्रम-अक्रम संबन्ध में सप्तभंगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किसप्रकार लागू होता है? (सिद्ध का दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझे बिना कई लोग अनेकांत के या स्याद्वाद के नाम से गप्पें हाँकते हैं। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति में वस्तु स्व-रूप से अस्तिरूप है और पर-रूप से नास्तिरूप है;—ऐसा अनेकान्त है; किन्तु वस्तु स्व-रूप से भी अस्तिरूप है और पर-रूप से भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नहीं है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम—अक्रम में भी समझना चाहिये। पर्यायें क्रमबद्ध हैं और गुण अक्रम हैं—ऐसा अनेकान्त है; किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध हैं और पर्यायें अक्रम भी हैं—ऐसा मानना वह कहीं अनेकान्त नहीं है; वह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं—अक्रम नहीं हैं ऐसा अनेकान्त है। पर्याय में अक्रमपना तो है ही नहीं, इसलिये उसमें "कथंचित् क्रम और कथंचित् अक्रम" —ऐसा अनेकान्त लागू नहीं होता। वस्तु में जो धर्म हों उनमें सप्त-भंगी लागू होती है, किन्तु वस्तु में जो धर्म ही न हो, उनमें सप्त-भंगी लागू नहीं होती।

"सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही हैं"—ऐसा कहनेपर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवान को एकान्त सुख ही क्यों कहते हो? कथंचित् सुख और कथंचित् दुःख—ऐसा अनेकान्त कहो न?—उसका समाधान:—भाई। सिद्धभगवान को जो सुख प्रगट हुआ है वह

एकान्त सुख ही है, उसमें दुःख किंचित्मात्र है ही नहीं, इसलिये उसमें तेरा कहा हुआ सुख–दुःख का अनेकान्त लागू नहीं होता। सिद्धभगवान को शक्ति में या व्यक्ति में किसी प्रकार दुःख नहीं है इसलिये वहाँ सुख–दुःख का ऐसा अनेकान्त या सप्तभंगी लागू नहीं होती; किन्तु सिद्धभगवान को एकान्त सुख ही है और दुःख किंचित् नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो, पंचाध्यायी, गाथा ३३३–३४–३५) उसीप्रकार यहाँ पर्याय में क्रमबद्धता है और अक्रमता नहीं है—ऐसा अनेकन्त लागू होता है, किन्तु पर्याय में क्रमता भी है और अक्रमता भी है—ऐसा अनेकान्त नहीं है क्योंकि पर्याय में अक्रमता नहीं है। पर्याय से ही क्रमरूप और पर्याय से ही अक्रमरूप —ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु पर्याय से क्रम-वर्तीपना और गुण से अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम–अक्रमरूप जीव का स्वरूप है।

(७१) ट्रेन के दृष्टान्त से शंका और उसका समाधान

शंका:—एक आदमी ट्रेन के डिब्बे में बैठा है और ट्रेन पूर्वदिशा की ओर जा रही है; वहाँ ट्रेन के चलने से उस आदमी का भी पूर्व की ओर जो गमन हो रहा है वह तो क्रमबद्ध है, किन्तु वह आदमी डिब्बे में खड़ा होकर पश्चिम की ओर चलने लगे तो उस गमन की अवस्था अक्रमरूप हुई न ?

समाधान:—अरे भाई! तुझे अभी क्रमबद्धपर्याय की खबर नहीं है। पर्याय का क्रमबद्धपना कहा जाता है वह तो ऊर्ध्वप्रवाह की अपेक्षा से (—कालप्रवाह की अपेक्षा से) है क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है। वह आदमी पहले पूर्व में चले और फिर पश्चिम में चलने लगे तो उससे कहीं उसकी पर्याय के काल का क्रम टूट नहीं गया है। ट्रेन पूर्व में जा रही हो और डिब्बे में बैठा हुआ आदमी पश्चिम की ओर चलने लगे, तो उससे कहीं उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नहीं

हुई है। अरे! ट्रेन पूर्व में जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमबद्ध ही है। पर्यायों का क्रमबद्धपना द्रव्य के ऊर्ध्वप्रवाहक्रम की अपेक्षा से है। यह क्रमबद्धपर्याय की बात अनेक जीवों ने तो अभीतक सुनी ही नहीं है। क्रमबद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवाले का ध्येय कहाँ जाता है—वह बात लक्ष में लेकर समझे ही नहीं तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो? वस्तु में अनंत गुण हैं, वे सब एकसाथ—बिछे हुए—तिर्यक्प्रचयरूप हैं इसलिये वे अक्रमरूप हैं; और पर्यायें एक के बाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप हैं इसलिये वे क्रमरूप हैं।

(७२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है?

देखो, क्रमबद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्यों में है; किन्तु यह बात कहीं अजीव को नहीं समझाते; यह तो जीव को समझाते हैं, क्योंकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाता को अपने ज्ञायकस्वभाव का भान होने पर वह क्रमबद्धपर्याय का भी ज्ञाता हो जाता है।

(७३) भाषा का उत्पादक जीव नहीं है

पाँचों अजीव द्रव्य भी अपने-अपने गुणों से अपने क्रमबद्ध नियमित परिणामरूप से उत्पन्न होते हुए अजीव ही हैं—जीव नहीं हैं। अजीव द्रव्य—उनमें प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारकों की अपेक्षा न रखकर स्वयं अपने छह कारकरूप होकर अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं; वे भी किसी अन्य के कर्ता नहीं हैं, और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनायें ऐसा भी नहीं है। भाषा बोली जाती है वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूप से अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नहीं करता।

प्रश्न :— केवलीभगवान की वाणी तो इच्छा के बिना ही सहजरूप से निकलती है इसलिये वह क्रमबद्धपर्याय है और उसे जीव

उत्पन्न नहीं करता—ऐसा भले ही कहो, किंतु छद्मस्थ की वाणी तो इच्छापूर्वक है इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भाषा को परिणमित करता है न ?

उत्तरः— भाई! ऐसा नहीं है। केवलीभगवान के या छद्मस्थ के जो वाणी निकलती है वह तो अजीव के अपने वैसे क्रमबद्धपरिणामों से ही निकलती है, जीव के कारण नहीं। छद्मस्थ को उस काल इच्छा होती है, किन्तु उस इच्छा ने वाणी को उत्पन्न नहीं किया है। और इच्छा है वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है, ज्ञान की अधिकता में धर्मी जीव उस इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायक को ही जानने की मुख्यता

वास्तव में तो इच्छा को जानना भी व्यवहार है। ज्ञान को अन्तरोन्मुखकर के ज्ञायक को जानना वह परमार्थ है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में राग को जानने की मुख्यता नहीं है किन्तु ज्ञायक को जानने की मुख्यता है। ज्ञान में ज्ञायक की मुख्यता हुई तब राग को उसका व्यवहार-ज्ञेय कहा; ज्ञाता जागृत हुआ तब राग को रागरूप से जाना और तभी राग को व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चय-पूर्वक ही व्यवहार होता है, क्योंकि ज्ञान और राग दोनों एकसाथ उत्पन्न होते हैं; धर्म शुरू होने में पहले रागरूप व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। यदि राग को अर्थात् व्यवहार को पहले कहो तो ज्ञान के बिना (निश्चय के बिना) उस व्यवहार को जाना किसने? व्यवहार स्वयं तो अंधा है, उसे कहीं स्व-पर की खबर नहीं है राग और भेदरूप व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय का अवलम्बन करके स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वही, ज्ञायक को जानते हुए राग को भी व्यवहार ज्ञेयरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ हैं; पहले व्यवहार और

फिर निश्चय—ऐसा माने, अर्थात् राग के अवलम्बन से ज्ञान होना माने, तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

(७५) "इष्टोपदेश" की बात :– कौन–सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से उसमें समय–समय की क्षणिक योग्यता की बात भी आ गई।

कोई कहे कि—"योग्यता की बात तो 'इष्टोपदेश' में आई है, इसमें कहाँ आई ?" उसका उत्तर :— यह भी इष्ट–उपदेश की ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझने से आत्मा का हित हो—ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यह "योग्यता" कहकर समय–समय की पर्याय की स्वतंत्रता बतलाई जा रही है वही उपदेश इष्ट है; इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—प्रिय नहीं है। समय–समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है; किन्तु पर्याय में फेरफार आगा–पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धि का पोषण करे वह उपदेश इष्ट नहीं है अर्थात् सच्चा नहीं है, हितकारी नहीं है। "जो आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तन कराये वह गुरु है; वास्तव में आत्मा स्वयं ही अपनी योग्यता से अपने आत्मा को हितमार्ग में प्रवर्तित करता है इसलिये वह स्वंय ही अपना गुरु है। निमित्तरूप से अन्य ज्ञानी गुरु होते हैं, किन्तु उस निमित्त के कारण इस आत्मा में कुछ हो जाये—ऐसा नहीं हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश ! इस प्रकार उपदेश हो तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है, इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नहीं है—हितकारी नहीं है—सत्य नहीं है।

(७६) आत्मा का ज्ञायकत्व और पदार्थों के परिणमन में क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिसप्रकार केवली-

भगवान जगत के सर्व द्रव्य–गुण–पर्याय के ज्ञाता हैं, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञान ने जाना इसलिये पदार्थों में वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नहीं है; और पदार्थ वैसे हैं इसलिये उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। "ऐसा क्यों?"—ऐसा विकल्प ज्ञान में नहीं है और पदार्थों के स्वभाव में भी ऐसा नहीं है। "ऐसा क्यों?"—ऐसा विकल्प करके जो पदार्थ को बदलना चाहता है उसने ज्ञान के स्वभाव को नहीं जाना है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से साधकजीव ज्ञाता हो जाता है; "ऐसा क्यों?"—ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प उसे नहीं होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा!—एक साथ दस बोल

ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह—

—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, (१)
—उसके ज्ञान में सर्वज्ञ की सिद्धि आई, (२)
—उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, (३)
—उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ, (४)
—उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)
—उसने सर्व जैनशासन को जान लिया, (६)
—उसने देव–गुरु–शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचान लिया, (७)
—उसके निश्चय–व्यवहार दोनों एकसाथ आये, (८)
—उसकी पर्याय में पाँचों समवाय आ गये, (९)
—"योग्यता ही वास्तविक कारण है" उसका उसे निर्णय हुआ इसलिसे इष्ट-उपदेश भी उस में आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तरदृष्टि की बात है, जो इससे विपरीत माने वह लौकिक-जन है

अहो, यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायकस्व-

भाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना वह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की पर्यायें क्रमबद्ध हैं—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है वह लौकिकजन है; लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नहीं रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थों की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायों को जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर-स्वभाव है, उसे जो नहीं मानता वह भले ही जैनसंप्रदाय में रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। "लौकिकमती" कहने से कई लोगों को यह बात कठिन मालूम होती है? किन्तु भाई! समयसार में आचार्यभगवान स्वयं कहते हैं कि—"ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादि-कार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।" (गाथा ३२२–२३ टीका)

—जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव–नारकादि कार्य करते हैं, और उनके (—लोक से बाह्य हो जानेवाले मुनियों के) मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धांत की (मिथ्यासिद्धान्त की) दोनों के समानता है। इसलिये आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों का (मुनियों का) भी मोक्ष नहीं होता।

उसके भावार्थ में पं. जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

"जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिक-जन सरीखे ही हैं; क्योंकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनों का

मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनों के मोक्ष नहीं है उसी तरह उन मुनियों के भी मोक्ष नहीं है।"

देखो, इससें मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैनसम्प्रदाय का द्रव्य-लिंगी साधु होकर भी, यदि "आत्मा पर का कर्ता है"—ऐसा माने, तो वह भी लौकिकजनों की भांति मिथ्यादृष्टि ही है। अब, आत्मा पर का कर्ता है—ऐसा शायद सीधी तरह न कहे, किन्तु—

— निमित्त हो तदनुसार कार्य होता है ऐसा मानें, अथवा हम निमित्त होकर पर का कार्य कर दें–ऐसा मानें,

— अथवा राग के—व्यवहार के—अवलम्बन से निश्चयश्रद्धा–ज्ञान होना मानें,—शुभरागरूप व्यवहार करते करते निश्चयश्रद्धादि होना मानें,

— मोक्षमार्ग में पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा मानें,

— अथवा राग के कारण ज्ञान हुआ, अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य—ऐसा मानें,

तो वे सब भी वास्तव में लौकिकजन ही हैं, क्योंकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नहीं हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

"ज्ञायक" के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाले सम्यक्त्वी लोकोत्तर दृष्टिवान हैं, और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान हैं।

(७९) समझने के लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है; किन्तु इसे समझने के लिये ज्ञान को अन्यत्र से हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिये। अभी तो जिसके श्रवण में भी एकाग्रता न हो और श्रवण के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो, वह अन्तर में एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब ?

(८०) भीतर दृष्टि करने से सारा निर्णय होता है

प्रश्न :— आप तो बहुत से पक्ष (–पहलू) समझाते हैं, किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है, उसमें क्या–क्या समझें ?

उत्तर :— अरे भाई ! जो समझना चाहे उसे यह सब समझ में आ सकता है। दृष्टि बाह्य में डाली है, उसे बदलकर अंतर में दृष्टि करते ही यह सभी पक्ष समझ में आ सकते हैं। समझनेवाला स्वयं भीतर बैठा है या कहीं अन्यत्र गया है ? अन्तर में शक्तिरूप से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है; उसमें दृष्टि करे इतनी देर है। "मेरे नैनों की आलस से रे...मैं हरि को न नीरख्यो जरी..." इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनों के आलस्य से अज्ञानी उसे नहीं देखता। अंतर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षों का निर्णय हो जाता है।

(८१) ज्ञाता स्व–पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भी जानता है; स्व–पर दोनों को जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व–पर दोनों को करता हुआ उत्पन्न नहीं होता। कर्ता तो एक स्व का ही है, और स्व में भी वास्तव में ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्याय को ही करता है; राग का कर्तृत्व धर्मी की दृष्टि में नहीं है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु "राग को करता हुआ" उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वयं अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनों क्रियायें एकसाथ हैं; ज्ञान में वे दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है। "आत्मा स्वयं अपने को किस प्रकार जानता है—इस सम्बन्ध में प्रवचनसार की ३६वीं गाथा में आचार्यदेव ने शंका–समाधान किया

हैं। एक पर्याय में से दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने में विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं उत्पन्न हो और उसी समय वह स्व को जाने—ऐसी दोनों क्रियायें एकसाथ होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर को प्रकाशित करने का है। ज्ञान स्वयं अपने को नहीं जानता—ऐसा जाननेवाले ने वास्तव में ज्ञान को ही नहीं माना है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं अपने को जानता हुआ क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टि की बात समझने के लिये ज्ञान की एकाग्रता

कालेज के बड़े–बड़े प्रोफेसरों के भाषण की अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकार की बात है; वहाँ तो समझने के लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्व का विकास हो तदनुसार ही समझ में आता है; और समझने पर भी उसमें आत्मा का कल्याण तो होता नहीं है। और यह तो लोकोत्तर दृष्टि की बात है, इसमें ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञान को एकाग्र करे तो वर्तमान में भी नया–नया विकास होता जाये और अंतर में एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३) सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होने से, उसके अनंत गुण एकसाथ परिणमित होते हैं; ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रादि सर्व गुणों के परिणमन में निर्मलता के अंश का प्रारंभ हो जाता है, फिर भले ही उसमें अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थान में क्षायिक श्रद्धा हो जाये तथापि ज्ञान–चारित्र पूरे नहीं हो जाते, किन्तु उनका अंश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्वी को निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न होने की ही मुख्यता है; अस्थिरता के जो रागादिभाव होते हैं वे उसकी

दृष्टि में गौण हैं, अभूतार्थ हैं। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूप से वह वास्तव में उत्पन्न ही नहीं होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाम में छह–छह कारक

आचार्यदेव कहते हैं कि "जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है;" उसमें छहों कारक लागू होते हैं वह इसप्रकार है:—

१ — जीव स्वयं अपनी पर्याय के कर्तारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्ता नहीं है।

२ — जीव स्वयं अपने कर्मरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्म नहीं है।

३ — जीव स्वयं अपने करणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का करण नहीं है।

४ — जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का सम्प्रदान नहीं है।

५ — जीव स्वयं अपने अपादानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अपादान नहीं है।

६ — जीव स्वयं अपने अधिकरणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अधिकरण नहीं है।

और इसीप्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिये :—

१ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्ता नहीं बनाता।

२ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्म नहीं बनाता।

३ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना करण नहीं बनाता।

४ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना सम्प्रदान नहीं बनाता ।

५ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अपादान नहीं बनाता ।

६ – जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अधिकरण नहीं बनाता ।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है।—उसमें भी उपरोक्तानुसार छह-छह कारक समझ लेना चाहिये ।

—इसप्रकार, जीव-अजीव को परस्पर अकार्यकारणपना है।

(८५)—यह बात किसे जमती है ?

देखो यह भेदज्ञान ! ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी, इस बात को "छूत की बीमारी, एकान्त" इत्यादि कहकर कितने ही विरोध करते हैं; क्योंकि अपनी मानी हुई विपरीत बात का आग्रह उनके नहीं छूटता । अरे ! विपरीत मान्यता को सत्य मान बैठे हैं तो उसे कैसे छोड़ें ? पं. टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि—अन्यथा श्रद्धा को सत्य श्रद्धा माननेवाला जीव उसके नाश का उपाय भी किसलिये करेगा ? यह बात तो उसे जम सकती है जिसे मान और आग्रह छोड़कर आत्मा का हित करना हो ।

(८६) "करे तथापि अकर्ता"—ऐसा नहीं है

यहाँ जो बात कही जा रही है उसपर से कुछ लोग समझे विना ऐसा कहते हैं कि—"ज्ञानी पर के कार्य करता अवश्य है, किन्तु वह अकर्ता है।" किन्तु यह बात मिथ्या है। "अकर्ता" और फिर "करता है"—यह बात लाया कहाँ से ? यहाँ तो ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी या अज्ञानी कोई पर का कर्ता नहीं है, पर का कार्य कोई कर ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप

से उत्पन्न होता है; उसमें किसी अन्य का कर्तापना है ही नहीं। कर्तृत्व देखनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट होकर देखता है इसलिये उल्टा देखता है; यदि ज्ञायक रहकर देखे तो कर्तापना न माने। वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है, अज्ञानी विपरीत माने उससे कहीं वस्तुस्वरूप अन्यथा नहीं हो जाता।

(८७) यदि कुम्हार घड़ा बनाये तो...

जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होते हैं। अजीव में से प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध अवस्थारूप से स्वयं उत्पन्न होता है; उसकी वर्ण-गन्धादिरूप अर्थपर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है; और घड़ा आदि के आकाररूपव्यंजनपर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है। मिट्टी घड़ेरूप उत्पन्न हुई वहाँ उसकी व्यंजनपर्याय (आकृति) कुम्हार ने की—ऐसा नहीं है। घड़ेरूप से मिट्टी स्वयं उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमें व्याप्त है, कुम्हार व्याप्त नहीं है, इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इस बात का यहाँ काम नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामों के साथ तद्रूप—तन्मय है। जीव यदि अजीव की अवस्था को करे (जैसे कि—कुम्हार घड़ा बनाये) तो अजीव की अवस्था के साथ तद्रूपता होने से वह स्वयं भी अजीव हो जायेगा! यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो अजीव के निमित्त से आत्मा भी अजीव हो जायेगा—इत्यादि अनेक दोष आ पड़ेंगे।

(८८) "योग्यता" कब मानी कहलाती है?

प्रश्नः—एक प्याले में पानी भरा है, पास में अनेक प्रकार के लाल, हरे आदि रंग रखे हैं; उनमें से जैसा रंग लेकर पानी में डालेंगे वैसा ही पानी का रंग हो जायेगा। उस पानी में योग्यता तो सर्वप्रकार की है, किन्तु जिस रंग का निमित्त देंगे उसी रंग का वह हो जायेगा। इसलिये निमित्तानुसार ही कार्य होता है! भले ही उसकी योग्यता से होता है किन्तु जैसा निमित्त आता है वैसा होता है।

उत्तरः—अरे भाई ! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आयें वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवाले ने "योग्यता" को माना ही नहीं अर्थात् वस्तु के स्वभाव को ही नहीं माना। पानी के परमाणुओं में जिस समय जैसी हरे या लाल रंगरूप होने की योग्यता है, उसी रंगरूप वे परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हैं, दूसरा कोई निमित्त उसमें रंग ला सके या फेरफार कर सके—ऐसा नहीं है। अहो....? रंग के परमाणु पृथक् और पानी के परमाणु भी पृथक्; इसलियें रंग का निमित्त आने से पानी के परमाणुओं का रंग बदला ऐसा भी नहीं है; परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग–अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं में से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है—ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टांत अनुसार समझ लेना चाहिये।

स्कंध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमबद्ध योग्यता से परिणमित होता है; स्कंध के अन्य परमाणुओं के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नहीं है, किन्तु उसीमें स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतंत्र योग्यता हुई है। देखो, एक परमाणु पृथक् हो तब उसमें स्थूल परिणमन नहीं होता, किन्तु उसके स्कंध में मिलता है तब उसमें स्थूल परिणमन होता है, तो उसके परिणमन में इतना फेरफार हुआ या नहीं ?—हाँ, फेरफार तो हुआ है, किन्तु वह किसके कारण ?— तो कहते हैं कि अपनी ही क्रमबद्ध-पर्याय के कारण, पर के कारण नहीं। एक पृथक् परमाणु स्थूल स्कंध में मिला, वहाँ वह जैसा पृथक् था वैसा ही स्कंध में नहीं रहा किन्तु सूक्ष्म में से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है।

उसमें सर्वथा फेरफार नहीं हुआ—ऐसा भी नहीं है, और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता में से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक् परमाणु में स्थूलतारूप परिणमन नहीं होता, उसी प्रकार स्थूल स्कंध में भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नहीं होंगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कंध में मिलने से उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है, किन्तु वह पर के कारण नहीं होता, उसकी अपनी योग्यता से होता है।

(८९) क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले को "अभाग्य" होता ही नहीं

"अभाग्य से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है"—ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तों के सेवन का विपरीत भाव कौन करता है? वास्तव में तो अपना जो विपरीत भाव है वही अभाग्य है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर जिसने क्रम-बद्धपर्याय का निर्णय किया उसके ऐसा अभाग्य होता ही नहीं —अर्थात् कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र का सेवन उसके होता ही नहीं।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तु की पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वयं होती है—ऐसे वस्तुस्वरूप को जो नहीं जानता उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शांति या धर्म नहीं होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टि से देखनेवाला—ज्ञाता

आइस (बर्फ) डालने से पानी की ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; पानी में शक्कर डाली इसलिये उस शक्कर के कारण पानी के परमाणुओं में मीठी अवस्था हुई—ऐसा नहीं है; वे परमाणु स्वाधीन-रूप से वैसी अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। अपने आत्मा को स्वाधीन-दृष्टि से ज्ञायकभाव से परिणमित देखनेवाला जगत के समस्त पदार्थों

को भी स्वाधीन परिणमित देखता है; इसलिये वह ज्ञाता ही है, अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीव के कार्य को नहीं करता, किन्तु एक स्कंध में रहनेवाले अनेक परमाणुओं में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नहीं करता।—ऐसी स्वतंत्रता है।

(६१) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्नः—प्रवचनसार के ४७ नयों में तो कहा है कि अस्वभावनय से आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है; जिसप्रकार लोहे के तीर में संस्कार डालकर लुहार नई नोक निकालता है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं;—ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमबद्धता का नियम कहाँ रहा ?

उत्तरः—पर्याय निरंतर नई नई होती है, आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय में मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान थे, उनके बदले अब ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा—ज्ञान दूर होकर, सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े, इसलिये पर्याय में नये संस्कार कहे। तथापि वहाँ क्रमबद्धपर्याय का नियम नहीं टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने वैसा नहीं देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्धपर्याय में वैसा नहीं था और हो गया ?—ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ, केवलीभगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जो निर्मलपर्याय होना देखा था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पड़े बिना नहीं रहते, और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नहीं टूटता। —ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आयेगा।

(६२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और क्रमबद्धपर्याय में

आगा-पीछा करना मानता है उसे जीव-अजीव द्रव्यों की खबर नहीं है इसलिये मिथ्याज्ञान है। जो पर का कर्तृत्व मानता है उसे तो अभी पर से भिन्नत्व का भी भान नहीं है; पर से भिन्नत्व को जाने बिना अन्तर में ज्ञान और राग की भिन्नता उसके ख्याल में नहीं आ सकेगी। यहाँ तो ऐसी बात है कि जो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढला वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, राग को भी वह ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता रागादि का अकर्ता ही है।

* चौथा प्रवचन *

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर सं. २४८०]

> क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्ध स्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा है; और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है;—इन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा...य...क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्ध-परिणमन होने लगा, यही जैनशासन है।

(९३) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनों की अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतंत्र होती है, उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्यकारणपना नहीं है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति में सातों तत्त्वों की श्रद्धा भी आ जाती है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमें आ जाता है। सातों तत्त्वों की श्रद्धा किस प्रकार आती है वह कहते हैं:—

(१–२) अपने ज्ञानादि अनंत गुणों को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता–दृष्टा परिणामरूप से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमें मैं तन्मय हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में जीवतत्त्व की प्रतीति आ गई; ज्ञाता–दृष्टारूप से उत्पन्न होता हुआ मैं जीव हूँ, अजीव नहीं हूँ,—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का–कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया; इसलिये अजीवतत्त्व की प्रतीति हो गई।

(३–४–५–६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा–ज्ञान निर्मल हुए हैं, चारित्र में भी अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अभी साधक-दशा होने से अमुक रागादि भी होते हैं। वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है उतने ही संवर–निर्जरा हैं, और जितने रागादि होते हैं उतने ही अंश में आस्रव–बंध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनों का ज्ञान रहता है इसलिये उसे आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा तत्त्वों की प्रतीति भी आ गई।

(७) पर का अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होने से क्रमबद्धपर्याय में अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अब इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव में पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता–दृष्टापना (केवल-ज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी;—ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमें आ गई।

इस प्रकार, ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" भी आ जाता है।

(९४) सदोष आहार छोड़ने का उपदेश और क्रमबद्धपर्याय—उसका मेल

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, आहार भी जो आना हो वही आता है, तो फिर—"मुनियों को सदोष आहार छोड़कर निर्दोष आहार लेना चाहिये"—ऐसा उपदेश किसलिये ?

उत्तरः—वहाँ ऐसी पहचान कराई है कि जहाँ मुनिदशा हुई हो वहाँ इस प्रकार का सदोष आहार लेने का भाव होता ही नहीं;

उस भूमिका का क्रम ही ऐसा है कि वहाँ सदोष आहार लेने की वृत्ति ही नहीं होती। ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोड़ना चाहिए—यह तो निमित्त का कथन है। किन्तु कोई ऐसा कहे कि—"भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोष आयेगा, किन्तु हमें उसके ग्रहण की वृत्ति नहीं है"—तो वह स्वच्छन्दी है, उसकी दृष्टि तो आहार पर है, ज्ञायक पर उसकी दृष्टि नहीं है। मुनियों के तो ज्ञान में इतनी अधिक सरलता हो गई है कि—"यह आहार मेरे लिये बनाया होगा!" इतनी वृत्ति उठे तो भी (–फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ न हो और निर्दोष हो तो भी–) वह आहार लेने की वृत्ति छोड़ देते हैं। और कदाचित् उद्देशिक (–मुनि के लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वयं को शंका की वृत्ति न उठे और वह आहार ले लें तो भी मुनि को वहाँ कुछ भी दोष नहीं लगता। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले का जोर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर जाता है, पुरुषार्थ का जोर ज्ञायकस्वभाव की ओर ढ़ले विना क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो ही नहीं सकता।

(९५) क्रमवद्धपर्याय के निर्णय में जैनशासन

देखो, अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक इस क्रमवद्ध-पर्याय का निर्णय किया वहाँ अपनी क्रमवद्धपर्याय में ज्ञातापने की ही अधिकता हुई, और राग का भी ज्ञाता ही रहा। क्रमवद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अवद्ध स्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पंद्रहवीं गाथा में कहा, और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमवद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है; उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा...य...क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के साथ

चारित्र, आनंद, वीर्यादि का भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैन-शासन है; फिर वहाँ साधकदशा में चारित्र की अस्थिरता का राग और कर्म का निमित्तादि कैसे होते हैं वह भी स्व-परप्रकाशक ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाता है।

जिस जीव में या अजीव में, जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वयं परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नहीं होती। ऐसे वस्तु-स्वभाव का निर्णय करनेवाला जीव अपने ज्ञायकभाव का आश्रय करके ज्ञाता-दृष्टाभावरूप से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव के आश्रय से उत्पन्न नहीं होता। साधक होने से भले ही अधूरी दशा है, तथापि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय की मुख्यता से ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है, रागादि की मुख्यतारूप उत्पन्न नहीं होता। जिसने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया वही वास्तव में सर्वज्ञ को जानता है, वही जैनशासन को जानता है, वही उपादान-निमित्त और निश्चय-व्यवहार को यथार्थरूप से पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे वह कुछ भी यथार्थ —सच्चा नहीं होता।

(९६) आचार्यदेव के अलौकिक मंत्र

अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के और अमृतचन्द्राचार्यदेव के अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का विश्वास आ जाये उसीको यह क्रमबद्धपर्याय समझ में आ सकती है। समयसार में आचार्यदेव ने जगह-जगह यह बात रखी है—

मंगलाचरण में ही सबसे पहले कलश में शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि—"सर्वभावांतरच्छिदे" अर्थात् शुद्धात्मा अपने से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी सर्व विशेषणों सहित, एक ही समय में जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्र-

काल संवन्धी जानना कहा उसमें क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ("स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपनो अनुभवनक्रिया से प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमें स्व–परप्रकाशकपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि—"क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण–पर्यायें अंगीकार की हैं।"—उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात आगई।

तत्पश्चात् "अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुई वे–वे व्यक्तियाँ......" इसप्रकार ६२वीं गाथा में कहा, उसमें भी क्रमवद्धपर्याय की बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ता–कर्म अधिकार की गाथा ७६–७७–७८ में "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य" ऐसे कर्म की बात की; वहाँ कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ता का प्राप्य कर्म है,—ऐसा कहा उसमें भी पर्याय का क्रमबद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमवद्धपर्याय को प्रतिसमय प्राप्त करता है—पहुँच जाता है।

तपश्चात् पुण्य–पाप अधिकार की गाथा १६० "सो सव्वणाण-दरिसी..." में कहा है कि आत्मद्रव्य स्वयं ही "ज्ञान" होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है...किन्तु अपने पुरुषार्थ के अपराध से सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को) जाननेवाले ऐसे अपने को नहीं जानता इसलिये अज्ञानभाव से वर्तता है। यहाँ "विश्व को सामान्य–विशेषरूप से जानने का स्वभाव" कहने से उसमें क्रमवद्धपर्याय की वात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नहीं जानता इसीलिये अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभाव को जाने तो उसमें क्रमवद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकार में गाथा १६६ में "स्वयं ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है"—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञेयों का क्रमबद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् संवर अधिकार में "उपयोग उपयोग में ही है, क्रोध में या कर्म–नोकर्म में उपयोग नहीं है"—ऐसा कहा, वहाँ उपयोग के स्व-परप्रकाशकस्वभाव में क्रमबद्धपर्याय की बात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ में वेद्य और वेदक दोनों भावों की क्षणिकता बतलाई है; वे दोनों भाव कभी इकट्ठे नहीं होते—ऐसा होकर उनकी क्रमबद्धता बतलाई है। समय–समय की उत्पन्न-ध्वंसीपर्याय पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है किन्तु ध्रुव ज्ञायक-स्वभाव पर उसकी दृष्टि है, ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रम-बद्धपर्याय का ज्ञाता है।

पश्चात् बंध अधिकार में १६८वें कलश (सर्वं सदैव नियतं....) में कहा है कि—इस जगत में जीवों को मरण, जीवित, दुःख, सुख —सब सदैव नियम से अपने कर्म के उदय से होता है; "दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन, दुःख, सुख करता है,—ऐसा जो मानना है वह तो अज्ञान है।" इसलिये आत्मा उस क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, किन्तु उसका बदलनेवाला नहीं है—यह बात उसमें आ गई।

मोक्ष अधिकार में भी गाथा २९७–९८–९९ में छह कारकों का वर्णन करके, आत्मा को "सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव" कहा। 'सर्वविशुद्ध-चिन्मात्र' कहने से सामनेवाले ज्ञेय पदार्थों के परिणाम भी क्रमबद्ध हैं—ऐसा उसमें आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चलती हुई (३०८से३११वीं) गाथाओं में भी क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट बात की है।

दूसरे शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर यह बात की है। पं. बनारसीदासजी ने श्री जिनेन्द्रभगवान के १००८ नामों में "क्रमवर्ती" —ऐसा भी एक नाम दिया है।

(६७) स्पष्ट और मूलभूत बात—"ज्ञानशक्ति का विश्वास"

यह तो सीधी और स्पष्ट बात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञता का उसमें सामर्थ्य है; सर्वज्ञता में क्या जानना शेष रह गया? सर्वज्ञता के सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आ सकती। इधर सर्वज्ञता के सामर्थ्य को प्रतीति में लिया वहाँ ज्ञेयों में क्रमबद्धपर्यायें हैं उसका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्मा के मूलभूत ज्ञायकस्वभाव की बात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिसे आत्मा की ज्ञानशक्ति का ही विश्वास न आये उसे जैनशासन की एक भी बात समझ में नहीं आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञातापने के क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्म का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होता इसलिये अजीव नहीं है।

तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे–सातवें गुणस्थान-रूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वयं ही अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादि के आश्रय से उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता इसलिये अजीव नहीं है।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमें भी जीव स्वयं ही क्रमबद्धपरिणमित होकर उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, किन्तु चौथा काल या शरीर का संहनन आदि अजीव के कारण वह अवस्था उत्पन्न नहीं हुई, तथा जीव ने उस अजीव की अवस्था नहीं की, इसलिये वह अजीव नहीं है।

(६८) अहो! ज्ञाता की क्रमबद्धधारा!

देखो, यह ज्ञाता की क्रमबद्धपर्याय! इसमें तो केवलज्ञान का समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है।

और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वों का निर्णय इसमें आ जाता है।

देखो, यह सत्य की धारा!—ज्ञायकभाव का क्रमबद्धप्रवाह!! ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव में एकता द्वारा सम्यग्दर्शन से प्रारंभ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभाव की क्रमबद्धधारा चली जाती है।

शास्त्र में उपदेशकथन अनेक प्रकार के आते हैं। उस-उस काल संतों को वैसे विकल्प उठने से उस प्रकार की उपदेशवाणी निकली; वहाँ ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभाव की धारारूप से उत्पन्न होता हुआ उस वाणी और विकल्प का ज्ञाता ही है, किन्तु उसमें तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

जगत का कोई पदार्थ बीच में आकर जीव की क्रमबद्धपर्याय को बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं होता; जीव अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; इसी प्रकार अजीव भी उसकी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नहीं करता वह अज्ञानरूप से भ्रांति में भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्नः—तीनकाल की पर्याय क्रमबद्ध है, तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यों नहीं होती?

उत्तरः—उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा। और देखो, गई कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा, उसके बाद मंगलवार ही आयेगा,—इस प्रकार सातों वारों की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नहीं?

'बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो ?...ऐसी शंका कभी नहीं होती क्योंकि उस प्रकार का क्रमबद्धता का निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो "क्रमबद्ध-पर्याय" कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ वहाँ स्वयं स्वकाल में क्रमबद्धपरिणमित होता है, और उसका स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उनका वह कर्ता नहीं होता।

(१००) "निमित्त न आये तो ?"—ऐसा कहनेवाला निमित्त को नहीं जानता

प्रश्नः—यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्त के विना हो जाती हो तो, यह पीछी यहाँ पड़ी है उसे हाथ के निमित्त विना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तरः—अरे भाई ! पीछी की अवस्था पीछी में और हाथ की अवस्था हाथ में,—उसमें तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रान्तर की क्रमबद्धपर्याय से ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से होते ही हैं, न हों ऐसा नहीं होता। इस प्रकार निमित्त का अस्तित्व होने पर भी उसे जो नहीं मानता, और "निमित्त न आये तो......" ऐसा तर्क करता है वह क्रमबद्धपर्याय को या उपादान-निमित्त को समझा ही नहीं है। "है" फिर न हो तो..." यह प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(१०१) "निमित्त विना कार्य नहीं होता"—इसका आशय क्या ?

उपादान-निमित्त की स्पष्टता का प्रचार होने से अब कुछ लोग

ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं कि—"निमित्त भले ही कुछ नहीं करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नहीं होता न!" किन्तु गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पड़ी है। निमित्त होता है उसे प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्र में भी ऐसा कहा जाता है कि "निमित्त के बिना नहीं होता;" किन्तु "कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नहीं हो सकता"—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। देवसेनाचार्य नयचक्र पृष्ठ ५२—५३ में कहते हैं कि— "यद्यपि मोक्षरूपी कार्य में भूतार्थ से जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण हैं, तथापि वह सहकारीकारण बिना सिद्ध नहीं होता; इसलिये सहकारीकारण की प्रसिद्धि के लिये निश्चय और व्यहार का अविनाभाव सम्बन्ध वतलाते हैं।" इसमें तो, क्रमबद्धपर्याय में उपादान की योग्यता के समय उसप्रकार का निमित्त होता ही है—ऐसा ज्ञान कराया है; कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो, "निमित्त बिना नहीं होता"—ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नहीं होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इसका आशय इतना ही है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ वह होता है, न हो ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कहीं पर कार्य नहीं होता, शास्त्रों में तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे हैं; किन्तु स्व-पर-प्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुविन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य देव ने दो दिन में ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है, उसमें जिनेन्द्र प्रतिष्ठा सम्बंधी क्रियाओं का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का

वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये, ऐसी विधि से लाना चाहिये; ऐसे कारीगरों के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिये तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बढ़ी हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियों का वर्णन आता है, किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोड़कर वह बात नहीं है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान कराई है, किन्तु ऐसा नहीं बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा में "सिद्धचक्रमण्डलविधान" और "यागमण्डलविधान" आदि के बड़े बड़े रंगबिरंगे मण्डल रचे जाते हैं, और शास्त्र में भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है; शास्त्र में उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमबद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नहीं है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्याय से स्वयं अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश में भी "देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना-रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलाने का नहीं है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा में उस-उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नहीं, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नहीं—ऐसा ही मुनिदशा की क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप है—वह बतलाया है। निमित्त से कथन करके समझायें, तो उससे कहीं क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत नहीं टूट जाता।

(१०३) स्वयंप्रकाशीज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वयं प्रकाशी है, अपने क्षायिकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है; किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की बात नहीं जमती। मैं ज्ञायक, क्रमबद्धपर्यायों को यथावत् जाननेवाला हूँ;—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको बदलनेवाला नहीं हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानीजीव कर्ता होकर पर को बदलना मानता है, वह मिथ्या-मान्यता ही संसार परिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयंप्रकाशीज्ञायक हैं; उसमें—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" हैं; (उनके ज्ञायकपना पूर्ण-व्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" हैं; (उनके पूर्ण ज्ञायक-पना प्रतीति में आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नहीं हुआ।)

(३) अज्ञानी "विपरीत ज्ञायक" हैं; (उन्हें अपने ज्ञायकपने की खबर नहीं है।)

ज्ञायकस्वभाव की अप्रतीति वह संसार,

ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा साधक दशा वह मोक्षमार्ग, और—

ज्ञायकस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाये वह केवलज्ञान और मोक्ष।

(१०४) प्रत्येक द्रव्य "निजभवन" में ही विराजमान है

जगत में प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है। अपने-अपने भाव का जो "भवन" है, उसीमें प्रत्येक द्रव्य विराजमान है। जीव के गुण-पर्यायें वह

जीव का भाव है और जीव भाववान है; अजीव के गुण-पर्यायें वह उसका भाव है और अजीव भाववान है। अपने-अपने भाव का जो भवन अर्थात् परिणमन—उसीमें सब द्रव्य विराजमान हैं। जीव के भवन में अजीव नहीं जाता—प्रवेश नही करता, और अजीव के भवन में जीव प्रविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार एक जीव के भवन में दूसरा जीव प्रवेश नहीं करता और एक अजीव के भवन में दूसरा अजीव नहीं जाता। जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य तीनोंकाल अपने-अपने निज भवन में (निज परिणमन में) विराजमान है; अपने निज भवन में से वाहर निकलकर दूसरे के भवन में कोई द्रव्य नहीं जाता।

सुदृष्टतरंगिणी में छह मुनियों का उदाहरण देकर कहा है कि:— जिस प्रकार एक गुफा में बहुत समय से छह मुनिराज रहते हैं; किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है, उदासीनता सहित एक गुफा में रहते हैं; छहों मुनिवर अपनी-अपनी स्वरूपसाधना में ऐसे लीन हैं कि दूसरे मुनि कब क्या करते हैं उसपर लक्ष ही नहीं जाता; एक दूसरे से निरपेक्ष रहकर सब अपने-अपने में एकाग्र होकर विराजमान हैं,। उसी प्रकार इस चौदह ब्रह्माण्डरूपी गुफामें जीवादि छहों द्रव्य एक-दूसरे से निरपेक्ष रूप से अपने-अपने स्वरूप में विराजमान हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता; सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में ही विद्यमान हैं; जगत की गुफा में छहों द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपने-अपने स्वरूप में परिणमित हो रहे हैं। उसमें भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला है, आत्मा के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों में ज्ञायकपना नहीं है।

(१०५) यह बात न समझनेवालों की कुछ भ्रमणायें

आत्मा ज्ञायक है, और ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होता हुआ वह क्रमबद्धपर्यायों का ज्ञाता ही है। इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का अनंतबल आता है;—उसे न समझनेवाले अज्ञानी मूढ़

जीवों को इसमें एकान्त नियतपना ही भासित होता है, किन्तु उसके साथ स्वभाव और पुरुषार्थ, श्रद्धा और ज्ञानादि आ जाते हैं वे उसे भासित नहीं होते।

कुछ लोग यह बात सुनने के बाद क्रमबद्धपर्याय की बातें करना सीखे हैं, किन्तु उसका ध्येय कहाँ जाता है और उसे समझनेवाले की दशा कैसी होती है वह नहीं जानते, इसलिये वे भी भ्रमणा में ही रहते हैं।

"हम निमित्त बनकर पर की व्यवस्था में फेरफार कर दें"—ऐसा कुछ अज्ञानी मानते हैं, वे भी मूढ़ हैं।

प्रश्नः—अगर ऐसा है, तो पच्चीस आदमियों को भोजन का निमन्त्रण देकर फिर चुपचाप बैठे रहें, तो क्या अपने आप रसोई बन जायेगी!!

उत्तरः—भाई, यह तो अन्तर्दृष्टि की गहरी बात है, इस प्रकार अद्धर से यह नहीं जम सकती। जिसे निमंत्रण देने का विकल्प आया, वह कहीं वीतराग नहीं है, इसलिये उसे विकल्प आये बिना नहीं रहेगा; किन्तु जीव को विकल्प आये, तो भी वहाँ वस्तु में क्रमबद्धरूप से जो अवस्था होना है वही होती है। यह जीव विकल्प करे, तथापि सामनेवाली वस्तु में वैसी अवस्था नहीं भी होती; इसलिये विकल्प के कारण बाह्यकार्य होते हैं—ऐसा नहीं है। और विकल्प होता है उसपर भी ज्ञानी की दृष्टि का बल नहीं है।

(१०६) "ज्ञानी क्या करते हैं"—वह अंतर्दृष्टि के बिना नहीं जाना जा सकता

प्रश्नः—शरीर में रोग का होना या मिटना वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्याय है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं, तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने-पीने में भी परहेज रखते हैं—सब करते हैं!

उत्तरः—तुझे ज्ञायकभाव की खबर नहीं है, इसलिये अपनी बाह्यदृष्टि से तुझे ज्ञानी सब करते दिखाई देते हैं, किन्तु ज्ञानी तो

अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित हो रहे हैं, राग में तन्मय होकर भी वे परिणमित नहीं होते, और पर की कर्ताबुद्धि तो उनके स्वप्न में भी नहीं रही है। अन्तर्दृष्टि के बिना तुझे ज्ञानी के परिणमन की खबर नहीं पड़ सकती। ज्ञानी को अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इसलिये अस्थिरता में अमुक रागादि होते हैं, उन्हें वे जानते हैं, किन्तु अकेले राग को जानने की भी प्रधानता नहीं है। ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक राग को भी जानते हैं; और अनंतानुबंधी रागादि उनके होते ही नहीं, तथा ज्ञायकदृष्टि में स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्द का पोषण करें—ऐसे जीवों के लिये यह बात नहीं है।

(१०७) दो पंक्तियों में अद्भुत रचना !

अहो! दो पंक्तियों की टीका में तो आचार्यदेव ने जगत के जीव और अजीव समस्त द्रव्यों की स्वतंत्रता का नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता अजीव ही है, जीव नहीं है। जीव अजीव की पर्याय को करता है या अजीव जीव की पर्याय को करता है;—ऐसा जो माने उसे जीव अजीव के भिन्नत्व की प्रतीति नहीं रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो जाती है।

(१०८) 'अभाव' है वहाँ 'प्रभाव' कैसे पाड़े ?

प्रश्नः—एक-दूसरे का कुछ कर नहीं सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाड़ते हैं न ?

उत्तरः—किस प्रकार प्रभाव पाड़ते हैं ? क्या प्रभाव पाड़कर पर की अवस्था को कोई बदल सकता है ? कार्य हुआ उसमें निमित्त का तो अभाव है, तब फिर उसने प्रभाव कैसे पाड़ा ? जीव अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् है, किन्तु परवस्तु के

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से वह असत् है, इसलिये परद्रव्य की अपेक्षा से वह अद्रव्य है, परक्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्र है, परकाल की अपेक्षा से वह अकाल है, और परवस्तु के भाव की अपेक्षा से वह अभावरूप है; तथा इस जीव के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से अन्य सर्व वस्तुयें अद्रव्य–अक्षेत्र–अकाल और अभावरूप हैं। तब फिर कोई किसी में प्रभाव पाड़े यह बात नहीं रहती। द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतंत्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय पर के कारण (निमित्त के कारण) होती है—ऐसा माने वह भी स्वतंत्र वस्तुरूप को नहीं समझा है। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपने से—स्वतंत्र है।

एक पंडितजी ऐसा कहते हैं कि—"अमुक–अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते हैं"—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर पर की पर्याय को बदल देता हो तो दो वस्तुओं की भिन्नता ही कहाँ रही? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है। यदि पर के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से स्वयं नहीं है—ऐसा हो जाता है इसलिये अपनी नास्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्वयं निमित्त होकर पर की अवस्था को करे तो सामनेवाली वस्तु की नास्ति हो जाती है। और, कोई द्रव्य पर का कार्य करे तो वह द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिये अपने रूप नहीं रहा। जीव के स्वकाल में जीव है और अजीव के स्वकाल में अजीव है; कोई किसी का कर्ता नहीं है।

पुनश्च, निमित्त की बलवानता बतलाने के लिये सूकरी के दूध का दृष्टान्त देते हैं कि—सूकरी के पेट में दूध तो बहुत भरा है, किन्तु दूसरा कोई उसे नहीं निकाल सकता; उसके छोटे-छोटे बच्चों

के आकर्षक मुँह का निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गले में उतर जाता है।—इसलिये देखो, निमित्त का कितना सामर्थ्य है! —ऐसा कहते हैं किन्तु भाई! दूध का प्रत्येक रजकण अपने स्वतंत्र क्रमबद्धभाव से ही परिणमित हो रहा है। इसी प्रकार "हल्दी और चूने के मिलने से लाल रंग हुआ तो वहाँ एक-दूसरे पर प्रभाव डालकर नई अवस्था हुई या नहीं?"—ऐसा भी कोई कहते हैं, किन्तु वह बात सच्ची नहीं है। हल्दी और चूने के रजकण एकमेक हुए ही नहीं हैं, उन दोनों का प्रत्येक रजकण स्वतंत्ररूप से अपने-अपने क्रमबद्धपरिणाम से ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है, किसी दूसरे के कारण वह अवस्था नहीं हुई। जिस प्रकार हार में अनेक मोती गुँथे हैं; उसी प्रकार द्रव्य में अनादि-अनंत पर्यायों की माला है, उसमें प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०९) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेव ने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनों द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते हैं। यहाँ दृष्टान्त भी "सुवर्ण" का दिया है;—जिस प्रकार सुवर्ण को कभी जंग नहीं लगती, उसी प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नहीं फिरता। जिस प्रकार कंकनादि पर्यायोंरूप से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण का अपने कंकनादिपरिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। सुवर्ण में चूड़ी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप से वह स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नहीं; यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमें वह तद्रूप होना चाहिये; किन्तु स्वर्णकार और हथौड़ी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह कंकनपर्याय तो रहती है, इसलिये स्वर्णकार या हथौड़ी उसमें तद्रूप नहीं हैं—सुवर्ण ही अपनी कंकनादिपर्याय में तद्रूप है। इस

प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने–अपने परिणामों के साथ ही तादात्म्य है—पर के साथ नहीं।

देखो, यह मेज़ पर्याय है, इसमें उस लकड़ी के परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए हैं; बढ़ई या आरी के कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नहीं है। यदि बढ़ई के द्वारा यह मेज़रूप अवस्था हुई हो तो बढ़ई इसमें तन्मय होना चाहिये; किन्तु इस समय बढ़ई या आरी निमित्तरूप से न होने पर भी उन परमाणुओं में मेज़पर्याय वर्त रही है; इसलिये निश्चित होता है कि यह बढ़ई का या आरी का काम नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का—उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्धपर्यायों के साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथ में संयोगरूप से रहनेवाली अन्य वस्तुओं के साथ उसका तादात्म्यपना नहीं है।—ऐसा होने से जीव को अजीव के साथ कार्य–कारणपना नहीं है, इसलिये जीव अकर्ता है—यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेंगे।

❀ पाँचवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला १, वीर सं. २४८०]

> देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन? ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ।

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक पर का अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार है; सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव, वह पर का अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है और पर उसका कार्य नहीं है। पर्याय नई होती है उस अपेक्षा से वह "उत्पन्न होता है"—ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नहीं थी और नई प्रगट हुई—इसप्रकार पहले की अपेक्षा से वह नई उत्पन्न हुई कहलाती है; किन्तु उस पर्याय को निरपेक्ष-रूप से देखें तो प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस समय का सत् है, उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहले के और बाद के समय की अपेक्षा से है।

"द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, अर्थात् द्रव्य और पर्याय—इन दो वस्तुओं के बिना कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं होता"—यह दलील तो तब आती है जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो; किन्तु "पर्याय भी निरपेक्ष सत् है"—ऐसा सिद्ध करना हो वहाँ यह बात नहीं आती। प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वयं अपने से सत् होने से "द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है," पर्याय द्रव्य से आलिंगित नहीं है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो, प्रवचनसार गाथा १७२, टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव उसमें तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु पर की पर्याय के साथ तद्रूप नहीं है, इसलिये उसका पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है;—इसप्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म-अधिकार नहीं है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान-अधि-कार है, इसलिये यहाँ ज्ञायकभाव पर का अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है —अजीव नहीं है। "उत्पन्न होता है"—कौन उत्पन्न होता है? जीव स्वयं। जीव स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है उसके साथ उसे अनन्यपना—एकपना है; अजीव के साथ उसे अनन्यपना नहीं है इसलिये उसे अजीव के साथ कार्यकारकपना नहीं है। प्रत्येक द्रव्य

को—स्वयं जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है—उसीके साथ अनन्यपना है, दूसरे के परिणामों के साथ उसे अनन्यपना नहीं है। इसलिये वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है; वह अपने ज्ञानपरिणाम के साथ एकमेक है, किन्तु पर के साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह पर का अकर्ता है। ज्ञायकरूप उत्पन्न होते हुए जीव को कर्म के साथ एकपना नहीं है, इसलिये वह कर्म का कर्ता नहीं है; ज्ञायकदृष्टि में वह नये कर्मबंधन को निमित्त भी नहीं होता इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्म के कर्तापने का व्यवहार किसे लागू होता है?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न?

उत्तरः—ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है और कर्म पर दृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म का व्यवहार से कर्ता है—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओं में कहेंगे। इसलिये जिसे अभी कर्म के साथ का संबंध तोड़कर ज्ञायकभावरूप परिणमित नहीं होना है किन्तु कर्म के साथ कर्ताकर्मपने का व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जड़कर्म के कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है।

प्रश्नः—तो फिर ज्ञानी को कौन-सा व्यवहार?

उत्तरः—ज्ञानी के ज्ञान में तो अपने ज्ञायकस्वभाव को जानने की मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है; इसलिये अपने ज्ञायकस्वभाव को जानना वह निश्चय है; और साधकदशा में वीच में जो राग रहा है उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानी को ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ वर्तते हैं। किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृति के बंधन में निमित्त हो या व्यवहार से कर्ता हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानी के होता ही नहीं।

उसे ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिक-सम्वंध टूट गया है। अगली गाथाओं में आचार्यदेव यह बात विस्तार-पूर्वक समझायेंगे।

(११२) वस्तु का कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमवद्धपर्याय कहो; जीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है, और अजीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। जीव की जो पर्याय हो उसमें अनन्यरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगत के अन्य जीव-अजीव द्रव्य भी सव अपने–अपने कार्यकाल में—क्रमवद्धपर्याय से—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसी के साथ इस जीव की एकता नहीं है।

उसी प्रकार, अजीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है, और जीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। अजीव के एक–एक परमाणु की जो पर्याय होती है उसमें अन-न्यरूप से वह परमाणु उत्पन्न होता है, उसे दूसरे के साथ एकता नहीं है। शरीर का हलन–चलन हो, भाषा वोली जाये,—इत्यादि पर्यायोंरूप से अजीव उत्पन्न होता है, वह अजीव की क्रमवद्धपर्याय है, जीव के कारण वह पर्याय नहीं होती।

(११३) निषेध किसका? निमित का, या निमित्ताधीनदृष्टि का?

प्रश्नः—आप क्रमवद्धपर्याय होना कहते हैं, उसमें निमित्त का तो निषेध हो जाता है।

उत्तरः—क्रमवद्धपर्याय मानने से निमित्त का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता, किन्तु निमित्ताधीनदृष्टि का निषेध हो जाता है। पर्याय में अमुक निमित–नैमित्तिकसम्वन्ध भले हो, किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टि में उसकी वात नहीं है। क्रमवद्धपर्याय मानने से निमित्त होने का सर्वथा निषेध भी नहीं होता, तथा निमित्त के कारण कुछ होता है—यह वात भी नहीं रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमवद्ध स्वकाल से अपने

में उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकाल से अपने में उत्पन्न होता है; इस प्रकार दोनों का भिन्न–भिन्न अपने में परिणमन हो ही रहा है। "उपादान में पर्याय होने की योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नहीं होती"—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर्याय होने की योग्यता हो और पर्याय न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्धपर्याय होने का काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो—ऐसा भी हो ही नहीं सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कहीं उपादान के आधीन नहीं है; किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है, और उसका भी क्रमबद्धपरिणमन हो ही रहा है। यहाँ, आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख के क्रमबद्धपरिणमन से छट्ठे—सातवें गुणस्थान की भावलिंगी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्त में द्रव्यलिंगरूप से शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यान में बैठे हों और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कहीं परिग्रह नहीं है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ कुदेवादि को माने ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता, और मुनिदशा हो वहाँ वस्त्र-पात्र रखे ऐसा क्रमबद्धपर्याय में नहीं होता,—इस प्रकार सर्व भूमिकाओं को समझ लेना चाहिये।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं)

'इष्टोपदेश' में (३५वीं गाथा में) कहा है कि कोई भी कार्य होने में वास्तविक रूप से उसकी अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यता से स्वयं गति करनेवाले पदार्थों को धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र बिछा हुआ निमित्त है, वह कहीं किसीको गति नहीं कराता; उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यता से ही कार्य

होता है, उसमें जगत की दूसरी वस्तुयें तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो, यह इष्ट-उपदेश। ऐसी स्वाधीनता का उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यता का उपदेश हो तो वह इष्ट-उपदेश नहीं है किन्तु अनिष्ट है। जैनदर्शन का उपदेश कहो ....आत्मा के हित का उपदेश कहो....इष्ट उपदेश कहो....यथार्थ उपदेश कहो...सत्य का उपदेश कहो....अनेकान्त का उपदेश कहो या सर्वज्ञभगवान का उपदेश कहो....वह यह है कि—जीव और अजीव प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी क्रमबद्धयोग्यता से ही कार्य होता है, पर से उसमें कुछ भी नहीं होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यता से ही स्वयं परिणमित हो जाता है, दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकाय का उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामी ने निमित्त का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोक में सदैव ज्यों का त्यों स्थित है; जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से ही गति करते हैं, उन्हें वह निमित्तमात्र है। गतिरूप से 'स्वयं परिणमित को' ही निमित्त है; स्वयं परिणमित न होनेवाले को वह परिणमित नहीं, कराता; और न निमित्त भी होता है।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो?" ऐसी शंका करनेवाला वास्तव में योग्यता को या निमित्त के स्वरूप को नहीं जानता। जिस-प्रकार कोई पूछता है कि—"जीव-पुद्गल में गति करने की योग्यता तो है, किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो?"—तो ऐसा पूछनेवाला वास्तव में जीव-पुद्गल की योग्यता को या धर्मास्तिकाय को भी नहीं जानता है; क्योंकि गति के समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप से होता ही है; जगत में धर्मास्तिकाय न हो ऐसा कभी होता ही नहीं।

"योग्यता के समय निमित्त न हो तो?"

"गति की योग्यता के समय धर्मास्तिकाय न हो तो?"

"पानी गर्म होने की योग्यता के समय अग्नि न हो तो?"

"मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता के समय कुम्हार न हो तो?"

"जीव में मोक्ष होने की योग्यता हो, किन्तु वज्रर्षभनाराचसंहनन न हों तो?"

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकार के—निमित्ताधीन दृष्टिवाले के—हैं। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली-श्रुतकेवली—आदि सभी में समझ लेना चाहिये। जगत में जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने नियमित स्वकाल की योग्यता से ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो वह "गतेः धर्मास्तिकायवत्" है। कोई भी कार्य होने में वस्तु की "योग्यता ही" निश्चयकारण है; दूसरा कारण कहना वह "गति में धर्मास्तिकायवत्" उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तव में वह कारण नहीं है। अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से वस्तु स्वयं ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टि की सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। एक समय में अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्याय से व्यय को प्राप्त होती है, और उसी समय अखण्डतारूप से ध्रुव स्थिर रहती है—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वयं वर्तती है। एक वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में बीच में कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये—ऐसा नहीं होता।

जिस प्रकार वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है; निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना वह तो वास्तव में मोक्षमार्ग है, और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना वह वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्य का कारण वास्तव में एक ही है। वस्तु की

योग्यता ही सच्चा कारण है, और निमित्त को दूसरा कारण कहना वह सच्चा कारण नहीं है किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्य का कर्ता भी एक ही है, दो कर्ता नहीं हैं। दूसरे को कर्ता कहना वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणाम से अनन्य है; इसलिये उस परिणाम के कर्ता दो नहीं होते। एक द्रव्य के परिणाम में दूसरा द्रव्य तन्मय नहीं होता, इसलिये दो कर्ता नहीं होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाम में (अपने और पर के—दोनों के परिणाम में) तन्मय नहीं होता, इसलिये एक द्रव्य दो परिणाम नहीं करता। नाटक-समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

करता परिनामी दरव,
करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी
वस्तु एक त्रय नाम ॥ ७ ॥

अर्थात्—अवस्थारूप से जो द्रव्य परिणमित होता है वह कर्ता है; जो परिणाम होते हैं वह उसका कर्म है; और अवस्था से अवस्थान्तर होना वह क्रिया है। यह कर्ता, कर्म और क्रिया वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं रहते। पुनश्च—

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।

जड़ परनामनिको करता है पुद्गल,
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है ॥ १० ॥

अर्थात्—एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते; एक द्रव्य दो परिणामों को नहीं करता। एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नहीं करते तथा एक द्रव्य दो क्रियायें नहीं करता।

जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्र में रहते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ते। पुद्गल तो उसके जड़-परिणाम का कर्ता है, और चिदानन्दआत्मा अपने चेतनस्वभाव का आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न स्वतंत्र परिणमन को जबतक जीव न जाने तबतक पर से भेदज्ञान नहीं होता और स्वभाव में एकता प्रगट नहीं होती, इसलिये सम्यग्दर्शनादि कुछ नहीं होते।

(११६) जो पर्याय में तन्मय हो वही उसका कर्ता

क्रमबद्धपरिणाम से परिणमित द्रव्य अपनी पर्याय के साथ एकमेक है,—यह सिद्धांत समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्ण का दृष्टांत देते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण में कुण्डलादि जो अवस्था हुई उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नहीं है; सुवर्ण की अवस्था से स्वर्णकार पृथक् है किन्तु सुवर्ण पृथक् नहीं है। उसी प्रकार जगत के जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी जो अवस्था होती है उसके साथ एकमेक हैं, दूसरे के साथ एकमेक नहीं हैं; इसलिये वे दूसरे के अकर्ता हैं। जो पर्याय हुई, उस पर्याय में जो तन्मय हो वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक् हो वह उसका कर्ता नहीं होता—यह नियम है। जैसे कि—

घड़ा हुआ, वहाँ उस घड़ारूप अवस्था के साथ मिट्टी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्याय के साथ ताने-बाने के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

अलमारी हुई, वहाँ उस आलमारी की अवस्था के साथ लकड़ी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बढ़ई उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटी के साथ आटे के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये स्त्री रोटी की अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ उस पर्याय के साथ आत्मा स्वयं एकमेक है, इसलिये आत्मा उसका कर्ता है, किन्तु अजीव उसमें एकमेक नहीं है इसलिये वह अकर्ता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सुख, आनन्द सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओं में समझ लेना चाहिए। उस-उस अवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है; वह अजीव नहीं है इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है।

(१९७) ज्ञाता राग का अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धांत समझाते हैं कि—ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव राग का भी अकर्ता है; अपने ज्ञातापरिणाम में तन्मय होने से उसका कर्ता है और राग का अकर्ता है, क्योंकि राग में वह तन्मय नहीं है। ज्ञायकभाव में जो तन्मय हुआ वह राग में तन्मय नहीं होता, इसलिये वह राग का अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभाव को जानना वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चय का ज्ञान करे तो, किस पर्याय में कैसा राग होता है और वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसंबंध किस प्रकार का होता है,—

उस सब व्यवहार का भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो जीव जड़कर्म का कर्ता है! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है और कर्म पर है-ऐसे अज्ञानी को ही कर्म के कर्तापने का व्यवहार लागू होता है; ज्ञायकदृष्टिवाले ज्ञानी को वैसा व्यवहार लागू नहीं होता। ज्ञायक-स्वभावी जीव मिथ्यात्वादि कर्म का अकर्ता होने पर भी उसे कर्म का कर्ता कहना वह व्यवहार है; और वह व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्ण की जो अवस्था हुई उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना वह व्यवहार है। जो कर्ता है उसे कर्ता जानना वह निश्चय, और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव अजीव की अवस्था का अकर्ता है और अजीव जीव की अवस्था का।—इस प्रकार जैसे जीव-अजीव को परस्पर कर्तापना नहीं है उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, संप्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नहीं है। मात्र निमित्तपने से उन्हें एक-दूसरे का कर्ता, कर्म, करण आदि कहना वह व्यवहार है। निमित्त से कर्ता यानी वास्तव में अकर्ता; और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार। निश्चय से अकर्ता हुआ तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ वह राग को रागरूप से जानता है किन्तु वह राग में ज्ञान की एकता नहीं करता, इसलिये वह ज्ञाता तो राग का भी अकर्ता है।

(११९) क्रमबद्धपर्याय का मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है; क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ। "ज्ञायक" कहो या "अकर्ता" कहो; ज्ञायक पर का अकर्ता है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर ऐसा भेदज्ञान करे, फिर साधकदशा में भूमिकानुसार जो व्यवहार रहा उसे ज्ञानी जानता है, इसलिये "व्यवहारनय उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है"—यह बात उसे लागू होती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यादृष्टि तो ज्ञायक को भी नहीं जानता, और व्यवहार का भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं होता।

द्रव्य अपनी जिस क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है वह पर्याय ही उसका कार्य है, दूसरा उसका कार्य नहीं है। इसप्रकार एक कर्ता के दो कार्य नहीं होते, इसलिये जीव अजीव को परस्पर कार्य-कारणपना नहीं है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध, तथा दूसरे चार अजीव द्रव्य;—उन सबको अपने-अपने उसकाल के क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले परिणामों के साथ तद्रूपपना है। पर्यायें अनादि अनन्त क्रमबद्ध होने पर भी उनमें वर्तमान रूप से तो एक ही पर्याय वर्तती है, और उस-उस समय वर्तती हुई पर्याय में द्रव्य तद्रूपता से वर्त रहा है। वस्तु को तो जब देखो तब वर्तमान है, जब देखो तब वर्तमान उस समय को पर्याय सत् है, उस वर्तमान के पहले हो जानेवाली पर्यायें भूतकाल में हैं और बाद में होनेवाली पर्यायें भविष्य में हैं; वर्तमान पर्याय एक समय भी आगे-पीछे होकर भूत या भविष्य की पर्याय-रूप नहीं हो जाती; उसी प्रकार भविष्य की पर्याय भूतकाल की

पर्यायरूप नहीं होती या भूतकाल की पर्याय भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती। अनादि–अनन्त प्रवाहक्रम में प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित रहती है; इस प्रकार पर्यायों की क्रम-बद्धता है।—यह बात प्रवचनसार की ९९वीं गाथा में प्रदेशों के विस्तारक्रम का दृष्टान्त देकर अलौकिक रीतिं से समझाई है।

(१२०) क्रमबद्धपर्याय में क्या–क्या आया?

प्रश्नः— "क्रमबद्ध" कहने से भूतकाल की पर्याय भविष्यरूप, या भविष्य की पर्याय भूतकालरूप नहीं होती—यह वात तो ठीक है; किन्तु इस समय यह पर्याय ऐसी ही होगी—यह वात इस क्रमबद्ध-पर्याय में कहाँ आई?

उत्तरः—क्रमबद्धपर्याय में जिस समय के जो परिणाम हैं वे सत् हैं, और उस परिणाम का स्वरूप कैसा होता है वह भी उस में साथ ही आ जाता है। "मैं ज्ञायक हूँ" तो मेरे ज्ञेयरूप से समस्त पदार्थों के तीनोंकाल के परिणाम क्रमबद्ध सत् हैं—ऐसा निर्णय उसमें हो जाता है। यदि ऐसा न माने तो उसने अपने ज्ञायकस्वभाव के पूर्ण सामर्थ्य को ही नहीं माना है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों में क्रमबद्धपर्याय होती है—यह बात जिसे नहीं जमती उसे निश्चय-व्य-वहार के या निमित्त–उपादान आदि के झगड़े खड़े होते हैं; किन्तु यह निर्णय करे तो सब झगड़े शांत हो जायें और भूल दूर होकर मुक्ति हुए विना न रहे।

(१२१) जहाँ रुचि वहाँ जोर

"निमित्त से और व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न!—ऐसा अज्ञानी जोर देता है; किन्तु भाई! तेरा जोर उल्टा है; तू कर्म की ओर जोर देता है किन्तु "आत्मा अकर्ता है—ज्ञान ही है"—इस-प्रकार ज्ञायक पर जोर क्यों नहीं देता? जिसे ज्ञायक की रुचि नहीं है और राग की रुचि है वही कर्म के कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाला काल के प्रवाह की ओर नहीं देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर देखता है; क्योंकि वस्तु की क्रमवद्धपर्याय कहीं काल के कारण नहीं होती। कालद्रव्य तो परिणमन में सर्व द्रव्यों को एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु स्कंध में जुड़े, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमें से पृथक् होता है, एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है,—इस प्रकार जीव-अजीव द्रव्यों में अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से क्रमबद्ध परिणाम होते हैं। इसलिये, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से वहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और कद्रूप; (ज्ञानी को दिवाली, अज्ञानी को होली)

क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणाम के साथ "तद्रूप" है;—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्य के साथ पर्याय को तद्रूप नहीं माना किन्तु पर के साथ तद्रूप माना, इसलिये उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्याय को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप करना चाहिये, उसके वदले पर के साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवाली के वदले होली की है। जिस प्रकार होली के वदले दिवाली के त्योहार में मुँह पर कालिख पोतकर मुँह काला कर ले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा, उसी प्रकार "दि...वाली" यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय; उसमें स्वयं तद्रूप होना चाहिये उसके वदले अज्ञानी पर के साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्याय को मलिन करता है, इसलिये वह दिवाली के वदले अपने गुणों को होली जलाता है। भाई, "दि" अर्थात् स्वकाल की पर्याय, उसे "वाल" (झूका) अपने आत्मा में,—तो तेरे घर पर दिवाली के दीपक जगमगा उठें अर्थात् सम्यग्ज्ञान के दीप जल उठें और

मिथ्यात्व की होली दूर हो जाये। स्वकाल की पर्याय को अन्तरोन्मुख न करके पर के साथ एकत्व मानकर, उस विपरीत मान्यता में अज्ञानी अपने गुणों को होम (जला) देता है इसलिये उसके गुणों की होली जलती है—गुणों की निर्मलदशा प्रगट होने के बदले मलिनदशा प्रगट होती है; उसमें आत्मा की शोभा नहीं है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकाल के साथ तद्रूपता धारण करे उसमें आत्मा की शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्याय के साथ तद्रूपता धारण करे उसीमें प्रत्येक द्रव्य की प्रभुता है; यदि उसकी पर्याय में दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे तो उसमें द्रव्य की प्रभुता नहीं रहती; अथवा आत्मा स्वयं पर के साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमें भी अपनी या पर की प्रभुता नहीं रहती। जो पर का कर्ता होने जाये वह अपनी प्रभुता को भूलता है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातापना न मानकर उसमें उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभाव के साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि—कद्रूप हो जाता है।

(१२३)—यह है जैनशासन का सार!

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणाम को नहीं करता;—इस एक सिद्धान्त में छहों द्रव्यों के तीनोंकाल के परिणमनके हल की चावी आ जाती है, सब समाधान हो जाते हैं। मैं ज्ञायक, और पदार्थों में स्वतंत्र क्रमबद्धपरिणमन—बस! इसमें सब सार आ गया। अपने ज्ञायक स्वभाव का और पदार्थों के क्रमबद्धपरिणाम की स्वतंत्रता का निर्णय करके, स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव में अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वयं ज्ञायक ही रहा और पर का अकर्ता हुआ, उसका ज्ञान रागादि से पृथक् होकर "सर्वविशुद्ध" हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

"योग्यता को ही" कार्य की साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेश में स्वतंत्रता का अलौकिक उपदेश किया है। "इष्टोपदेश" को "जैन

का उपनिषद्" भी कहते हैं। वास्तव में, वस्तु की स्वतंत्रता बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जांये वही इष्ट–उपदेश है; और वही जैनधर्म का मर्म है, इसलिये जैन का उपनिषद् है।

(१२४) "—विरला बूझे कोई !"

यह वात समझे विना उपादान–निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों वस्तुयें हैं अवश्य, उनका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में उनका वर्णन किया है; वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से उपादान–निमित्त के नाम से ऊल्टा स्व–पर की एकत्वबुद्धि का पोषण करता है; "देखो शास्त्र में निमित्त तो कहा है न? दो कारण तो कहे हैं न?"—ऐसा कहकर उल्टा स्व–पर की एकत्वबुद्धि को घोंटता है। पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

> उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
> भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थात्—जहाँ उपादान की अपनी निजशक्ति से कार्य होता है वहाँ दूसरी वस्तु निमित्त होती है; इस प्रकार उपादान और निमित्त दोनों वस्तुयें तो हैं, किन्तु वहाँ उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, और निमित्त तो उसमें अभावरूप—अकिंचित्कर है; —ऐसी भेदज्ञान की यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते हैं, अर्थात् सम्यक्त्वी जानते हैं।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है—आत्मा का अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि—"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का कंकनादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।"

अब इस सिद्धान्त पर से जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि—"इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता× × ×"कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव, कर्म के बन्धन का भी कारण हो—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) "एक" का कर्ता "दो" का कर्ता नहीं है (ज्ञायक के अकर्तृत्व की सिद्धि)

प्रश्नः—यदि जीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता है और उसमें तद्रूप होकर उसे करता है, तो एक के साथ दूसरे का भी करे उसमें क्या हर्ज? "एक का ग्वाला वह दो का ग्वाला"—यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है वह साथ में दो ले जाये तो उसमें उसे क्या परिश्रम? अथवा "एक की रसोई बनाना, वहाँ साथ में दो की बना लेना।" उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे वह साथ में दूसरे का भी कर दे तो क्या हर्ज? जीव स्वयं ज्ञायकरूप से उत्पन्न भी हो और कर्म को भी बाँध ले—इसमें क्या आपत्ति है?

उत्तरः—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है, इसलिये उसे तो करता है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है इसलिये उसका वह कर्ता नहीं है। पर के साथ तद्रूप हो तभी पर को करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नहीं सकता। इसलिये "गाय के ग्वाले" जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नहीं होती। स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप है, इसलिये उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादि-भावों के साथ वह तद्रूप नहीं है इसलिये वास्तव में राग का कर्ता नहीं है, इसलिये कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार भी उसे लागू नहीं होता। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—"जीव अपने परिणामों से

उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता।"

कौन–सा जीव ?....कहते हैं कि ज्ञानी;

कैसे परिणाम ?...कहते हैं कि ज्ञाता–दृष्टा के निर्मल परिणाम—ज्ञानी अपने ज्ञाता–दृष्टा को निर्मल परिणामरूप से उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मों के बंध का कारण नहीं होता; क्योंकि उसे अपने ज्ञायकभाव के साथ ही एकता है, रागादि की कर्म के साथ एकता नहीं है, इसलिये वह रागादि का और कर्म का अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणाम का कर्ता हो और साथ ही साथ अजीव में नये कर्म बाँधने में भी निमित्त हो—ऐसा नहीं होता। नये कर्मों में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों की बात लेना है,—उनका बंधन ज्ञानी को होता ही नहीं। ज्ञानी को अपने निर्मल ज्ञान परिणाम के साथ कार्यकारणपना है, किन्तु अजीव के साथ या रागादि के साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है, इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१२७) व्यवहार–कौनसा ? और किसको ?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात हुई, अब व्यवहार समझाइये ?

उत्तरः—जो यह निश्चयस्वरूप समझ ले उसे व्यवहार की खबर पड़ती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व–परप्रकाशक शक्ति विकसित हुई तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते हैं उन्हें वह जानता है। स्वयं राग से अधिक होकर ज्ञायकरूप से परिणमित होता हुआ चारित्र में अस्थिरता का जो राग है उसे भी जानता है—वह ज्ञानी का व्यवहार है। किन्तु जहाँ निश्चय का भान नहीं है, ज्ञाता जागृत नहीं हुआ है, वहाँ व्यवहार को जानेगा कौन ? वह अज्ञानी तो राग को भला जानते हुए उसीमें एकता मान लेता है, इसलिये उसे तो राग ही निश्चय हो गया, राग से पृथक् कोई राग का ज्ञाता नहीं

रहा। यहाँ तो जागृत होकर ज्ञान की अधिकतारूप से परिणमित होता हुआ, शेष अल्प राग को भी जाने वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है, और राग वह ज्ञानी का व्यवहार ज्ञेय है। किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, और "कर्म का व्यवहार-कर्ता तो हूँ न!"—ऐसी दृष्टि है, उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे कि कर्म के साथ कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है।

❀ छठवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला २, वीर सं. २४८०]

भाई, पंचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पंचपरमेष्ठी भगवन्त कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहाँ तो पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार" को "शुद्धात्मद्रव्य अधिकार" भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप क्या है वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है; वह ज्ञायकस्वभाव न तो पर का कर्ता है, और न राग का। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नहीं है, और न राग में कर्ताबुद्धि भी उसका स्वभाव है; राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। राग में तन्मय होकर नहीं, किन्तु राग से अधिक रहकर—भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक—वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के सारे गर्व दूर हो जायें।

यहाँ जीव को समझाना है कि तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है। "ज्ञायक" ज्ञाता–दृष्टा परिणाम के अतिरिक्त दूसरा क्या करे? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते हैं उन्हींमें मैं तन्मय हूँ, राग में या पर में मैं तन्मय नहीं हूँ, इसलिये उनका मैं अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमबद्ध होनेवाले जड़ परिणामों के साथ तन्मय है और दूसरों के साथ तन्मय नहीं है; इसलिये वह अजीव भी पर का अकर्ता है; किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है, यहाँ तो जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करना है; जीव को यह बात समझाना है।

(१२६) दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेश का रहस्य समझा है

यह आत्मा के ज्ञायकभाव की बात है; इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो, और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हो। दृष्टि को बदले तो यह बात जीव की समझ में आ सकती है। यह वस्तु मात्र करने के लिये नहीं है, किन्तु समझकर दृष्टि को अन्तरोन्मुख करने के लिये यह उपदेश है। क्रमबद्धपर्याय तो अजीव में भी होती है, किन्तु उसे कहीं ऐसा नहीं समझाना है कि तू अकर्ता है इसलिये दृष्टि को बदल! यहाँ तो जीव को समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर "मैं पर का कर्ता"—ऐसा मान रहा है; उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञायक है; जीव और अजीव सर्व द्रव्य अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित हो रहे हैं, तू उनका ज्ञायक है, किन्तु किसी पर का कर्ता नहीं है। "मैं ज्ञायक स्वभाव, पर का अकर्ता, अपनी ज्ञानपर्याय में क्रमबद्ध परिणमित होता हूँ"—ऐसा समझकर स्वद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। दृष्टि की दिशा

स्वोन्मुख करे तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है, और उसके अपने में निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। "मेरी सब पर्यायें क्रमबद्ध–क्रमशः होती हैं"—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायोंरूप से परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमें और पर का क्रमबद्धपरिणमन पर में; पर के क्रम में मैं नहीं हूँ और मेरे क्रम में पर नहीं है;—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करने से "मैं पर का कुछ करूँ"—ऐसी दृष्टि छूट जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टि का परिणमन होने से ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणों में भी स्वाश्रय से अंशतः निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्म की मूल बात

पंडित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनों को तो अभी "सर्वज्ञ" की तथा क्रमबद्धपर्याय की भी श्रद्धा नहीं है। किन्तु यह तो जैनधर्म की मूलबात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नहीं। यदि केवलज्ञान तीनकाल की समस्त पर्यायों को न जाने तो वह केवलज्ञान काहे का? और यदि पदार्थों की तीनोंकाल की समस्त पर्यायें व्यवस्थित—क्रमबद्ध ही न हों तो केवलीभगवान ने देखा क्या?

(१३१) "सर्वभावांतरच्छिदे"

समयसार का मांगलिक करते हुए पहले ही कलश में आचार्यदेव ने कहा है कि—

नमः समयसाराय
स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय
सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

"समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि मैं साधक हूँ, इसलिये मेरा परिणमन अंतर में

नमता है, मैं शुद्धात्मा में परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा? प्रथम तो स्वानुभूति से प्रकाशमान है यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है; राग द्वारा या व्यवहार के अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नहीं होता। और कहा है कि वह ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वयं से अन्य समस्त भावों का भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीव का ज्ञान स्वभाव है और वह तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—यह बात भी उसमें आ गई।

(१३२) ज्ञान में जो पर को जानने की शक्ति है वह अभूतार्थ नहीं है

प्रश्नः—जीव का ज्ञान स्वभाव है, और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थों को तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायोंको जानता है—ऐसा आप कहते हैं, किन्तु नियमसार की १५९वीं तथा १६६वीं गाथा में कहा है कि केवलीभगवान निश्चय से स्व को जानते–देखते हैं और लोकालोक को तो व्यवहार से जानते–देखते हैं; तथा समयसार की ११वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा है; इसलिए "सर्वज्ञभगवान ने तीनकाल की समस्त पर्यायों को जाना है और तदनुसार ही पदार्थों में क्रमबद्धपरिणमन होता है"—यह बात ठीक नहीं है!! (—ऐसा प्रश्न है।)

उत्तरः—भाई, तुझे सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं रही? शास्त्रों की ओट में तू अपनी विपरीत दृष्टि का पोषण करना चाहता है; किन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा के विना तुझे शास्त्रों का एक अक्षर भी यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकता! ज्ञान पर को व्यवहार से जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान में जानने की शक्ति कहीं व्यवहार से नहीं है; जानने की शक्ति तो निश्चय से है, किन्तु पर के साथ एकमेक होकर अथवा तो पर सन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नहीं जानता इसलिये व्यवहार कहा है। स्व को जानते हुए अपने में एकमेक होकर जानता है इसलिये स्व–परप्रकाशपने को निश्चय

कहा, और पर में एकमेक नहीं होता इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञान में स्व–परप्रकाशक शक्ति है वह तो निश्चय से ही है, वह कहीं व्यवहार नहीं है। "सर्वभावांतरच्छिदे"—ऐसा कहा उसमें क्या शेष रह गया?—वह कहीं व्यवहार–से नहीं कहा है। और १६०वीं गाथा में "सो सव्वणाणदरिसी................ अर्थात् आत्मा स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है"—ऐसा कहा, वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है किन्तु निश्चय से ऐसा ही है। ज्ञान में स्व–पर को जानने की शक्ति है वह कहीं व्यवहार या अभूतार्थ नहीं है। अरे! स्वच्छन्द से कही हुई अपनी बात को सिद्ध करने के लिये, ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य को भी अभूतार्थ कहकर उड़ाये, और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्यों के नाम से बात करे—यह तो मूढ़ जीवों का महान गजब है! और जो उनकी ऐसी वात को स्वीकार करते हैं उन्हें भी वास्तव में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नहीं है।

(१३३) सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे उसे पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय बिना) सर्वज्ञ को मानते हैं; उन्हें ऐसा प्रश्न उठता है कि—यदि सर्वज्ञभगवान के देखे अनुसार ही क्रमबद्ध होता है और उस क्रम में फेरफार नहीं हो सकता,—तो फिर जीव को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? तो उससे कहते हैं कि हे भाई! तूने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है?—सर्वज्ञ का निर्णय किया है? तू अपने ज्ञानस्वभाव का और सर्वज्ञ का निर्णय कर तो तुझे खबर पड़ेगी कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ किस प्रकार आता है? पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगों की समझ में नहीं आया है। अनादिकाल से पर में और राग में ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्व के अनन्त दुःख का अनुभव कर रहा है, उसके वदले ज्ञायकस्वभाव का निर्णय होने से वह विपरीत मान्यता छूट गई और

ज्ञायकभाव की ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव होता है,—इसीमें अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करने से पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा, आनंद, चारित्र—इन समस्त गुणों का परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया उसमें केवलज्ञान का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग—यह सब एकसाथ आ गया है।

(१३४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है?

सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; और उसमें वे तद्रूप हैं;—जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है तथापि वह अजीव को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर न घुमाकर, "मैं पर का करूँ"—ऐसी दृष्टि से अज्ञानरूप परिणमित होता है, और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नहीं करता, इसलिये उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्ग की निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाये।

(१३५) "मात्र दृष्टि की भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है, वह स्व–पर का प्रकाशक है, इसलिये पदार्थ जैसे हैं वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे–पीछे करनेवाला नहीं है। भाई! जगत के समस्त पदार्थों में जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होना है वह होना ही है, तू किसी परद्रव्य की अवस्था में फेरफार करने की सामर्थ्य नहीं रखता;—तो अब तुझे क्या करना रहा? अपने ज्ञायकस्वभाव को

चूककर, "मैं पर का कर्ता"—ऐसी दृष्टि में अटका है उसकी कुलाँट मारकर ज्ञानस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि घुमा! ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता रह जाता है; वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि–परिणामों का तो कर्ता है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता वह नहीं है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो न माने और पर का कर्ता होकर उसकी क्रमबद्धपर्याय को बदलने जाये, तो उस जीव को सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार सर्वज्ञ-भगवान ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य करते हैं, किसी के परिणमन को नहीं बदलते, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता-दृष्टापने का कार्य करना ही है।

पुण्य–पाप अधिकार की १६०वीं गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि:—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥

—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
संसार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से ॥ १६० ॥

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्व का ज्ञायक तथा दर्शक है; किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता, इसी-लिये वह अज्ञानरूप से वर्तता है। सर्व को जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञस्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराध के कारण उसे स्वयं नहीं जानता, इसलिये ज्ञाता–दृष्टापने का परिणमन न होकर अज्ञान के कारण विकार का परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अमुक रागादि होते हैं और ज्ञान का परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को ज्ञाता–दृष्टापने की ही मुख्यता है, ज्ञायक-दृष्टि के परिणमन में राग का कर्तापना नहीं है।

(१३६) "पुरुषार्थ" भी न उड़े...और..."क्रम" भी न टूटे !

अपनी क्रमवद्धपर्याय में ज्ञातापने का कार्य करता हुआ जीव दूसरे का भी कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इस प्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है। जड़ या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी,—सब अपनी क्रमवद्ध-पर्यायरूप हीं उत्पन्न होते हैं।

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से चारित्रदशा होती है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से आनंद प्रगट होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता;

देखो, यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है, और वैसी निर्मलदशायें होती जाती हैं, तथापि पर्याय की क्रमवद्धता नहीं टूटती।

(१३७) अज्ञानी को क्या करना चाहिये ?

प्रश्न:—हम तो अज्ञानी हैं, हमें क्या करना चाहिये ? क्या क्रमवद्ध मानकर वैठे रहें ?

उत्तर:—भाई ! अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वहाँ क्रमवद्ध का भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमवद्धपर्याय में जो

निर्मल पर्याय का क्रम था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित तो क्रमबद्ध की मान्यता भी सच्ची नहीं है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होने से, यद्यपि पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता, तथापि सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये, "अज्ञानी को क्या करना चाहिये"—इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—"क्या हम बैठे रहें ?"—किन्तु भाई ! बैठ रहने की व्याख्या क्या ? यह जड़ शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कहीं धर्म का सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी अनादिकाल से राग के साथ एकत्वबुद्धि करके उस राग में ही बैठा है—राग में ही स्थित है; उसके बदले ज्ञायकस्वभाव में एकता करके उसमें बैठे—अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता का अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३८) एक विना सब व्यर्थ !

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले हैं—ऐसा जो नहीं मानता वह केवलीभगवान को, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को, पंचपरमेष्ठी भगवंतों को या शास्त्र को नहीं मानता; जीव-अजीव की स्वतंत्रता या सात तत्त्वों की उसे श्रद्धा नहीं है, मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की, उपादान-निमित्त की या निश्चय-व्यवहार की भी उसे खबर नहीं है। जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं किया उसका कुछ भी सच्चा नहीं है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उसमें सभी पक्षों का निर्णय आ जाता है।

(१३९) पंचरूप से परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्नः—इस सम्बन्ध में आजकल बहुत झगड़े (मतभेद) चल रहे हैं, इसलिये "पंचों" को बीच में रखकर इसका कुछ निपटारा करो न ?

उत्तरः—भाई, पंचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पंच" हैं। ज्ञायक-स्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा

है उसी प्रकार अनादि से पंचपरमेष्ठी भगवान कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमंधरादि भगवंत इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हों तो भले मानें, किन्तु यहाँ तो पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पंचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है। पंचपरमेष्ठी भगवन्त इसी प्रकार मानते आये हैं और इसी प्रकार कहते आये हैं। जिसे पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित होना हो उसे इसी अनुसार मानना पड़ेगा।

देखो, यह पंचायत का फैसला!

हे भाई! पंचपरमेष्ठीभगवन्तों में अरिहंत और सिद्ध भगवन्त सर्वज्ञ हैं, तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं,—उस सर्वज्ञता को तू मानता है या नहीं मानता?

—यदि तू वास्तव में सर्वज्ञता को मानता हो तो उसमें क्रमबद्ध-पर्याय की स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञता को न मानता हो, तो तूने पंचों को (–पंचपरमेष्ठीभगवन्तों को) ही वास्तव में नहीं माना है।

"णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं"—ऐसा प्रतिदिन बोलते हैं, किन्तु अरिहंत और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित हैं, वे तीनकाल तीनलोक को जानते हैं और उसी प्रकार होता है—ऐसा माने तो उस में क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति को और क्रमबद्धपर्याय को जो नहीं मानता वह पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को भी यथार्थस्वरूप से नहीं मानता। इसलिये जिसे वास्तव में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पहिचानना हो उसे बराबर निर्णय करके यह बात मानना चाहिये।

—ऐसा पंचों का फैसला है।

(१४०) जीव के अकर्तृत्व की न्याय से सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते हैं:—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप हैं;

(३) जीव अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पर को (–कर्म को) उत्पन्न नहीं करता, इसलिये उसे पर के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभाव के बिना कार्यकारणपना नहीं होता इसलिये जीव कारण होकर कर्म को उत्पन्न करे ऐसा नहीं होता, और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना जीव का अजीव के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव कर्ता होकर, मिथ्यात्वादि अजीव कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

—इसलिये ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता

हुआ ज्ञानी कर्म का अकर्ता ही है। भाई! तू तो ज्ञानस्वभाव! तू अपने ज्ञाता–दृष्टाभावरूप से परिणमित होकर, उस परिणाम में तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जड़कर्म का कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। अहो! मैं....ज्ञा...य....क...हूँ....ऐसा अं...त....र् मु.. ख... हो....कर....स....म....झे....तो....जी...व....को...कि....त.... नी...शां....ति....हो....जा....ये....!

(१४१) अजीव में भी अकर्तापना

यहाँ जीव का अकर्तापना समझाने के लिये आचार्यदेव ने जो न्याय दिया है वह सर्व द्रव्यों में लागू होता है। अजीव में भी एक अजीव दूसरे अजीव का अकर्ता है। जैसे कि—पानी उष्ण हुआ वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, वह निम्नानुसार:—

(१) अग्नि और पानी दोनों पदार्थ अपनी–अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) अपनी–अपनी जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप हैं;

(३) अग्नि अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न नहीं करता; इसलिये उसे पानी के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य-उत्पादकभाव के बिना कार्य–कारणपना नहीं होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न करे—ऐसा नहीं होता; और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना अग्नि का पानी के साथ कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता।

—इसलिये अग्नि पानी की अकर्ता ही है। अग्नि अग्नि की पर्याय में तद्रूप है और उष्ण पानी की अवस्था में वह पानी ही तद्रूप है। इसी प्रकार कुम्हार और घड़ा आदि जगत के समस्त पदार्थों

में भी उपरोक्तानुसार पाँच बोल लागू करके एक-दूसरे का अकर्ता-पना समझ लेना चाहिये।

[नोटः— यहाँ जो अग्नि और पानी का दृष्टान्त दिया है, वह जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये नहीं दिया है, किन्तु अजीव का परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये दिया है—यह बात लक्ष में रखना चाहिये।]

(१४२) "....निमित्त कर्ता तो है न ?"

प्रश्नः— जीव कर्ता है या नहीं ?

उत्तरः— हाँ, जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि— अपने ज्ञायकपरिणाम का;—पुद्गलकर्म का नहीं।

प्रश्नः— पुद्गल कर्म का निमित्तकर्ता है या नहीं ?

उत्तरः— नहीं; ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नहीं है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है, और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओं में भलीभाँति समझाई है।

(१४३) ज्ञाता का कार्य

ज्ञानस्वभावी जीव कर्ता होकर किसी की पर्याय को आगे-पीछे बदल दे ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है; ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानी का कार्य है। जिस प्रकार "ईश्वर जगत का कर्ता"—यह बात मिथ्या है, उसी प्रकार जीव पर का कर्ता—यह बात भी मिथ्या है। ज्ञायक-मूर्ति आत्मा स्व-परप्रकाशक है, वास्तव में ज्ञायक तो शुभ-अशुभ-

भावों का भी ज्ञाता ही है; उसमें एकतारूप परिणमित न होने से, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होने से, वह राग का कर्ता नहीं है। राग को ज्ञान के साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि "ज्ञायक" पर नहीं है किन्तु विकार पर है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ "अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञान ने उन्हें बदलकर शुभ कर दिया"—ऐसा जो मानता है उसकी उन्मुखता भी विकार की ओर ही है; ज्ञायक की ओर उसकी उन्मुखता नहीं है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस-उस समय के राग को भी ज्ञान का व्यवहारज्ञेय बनाता है, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नहीं मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (—उस ज्ञान-परिणमन के साथ सम्यक्‌श्रद्धा, आनंद, पुरुषार्थ आदि का परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाता का कार्य है। इस प्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान—आनन्दादि परिणामों का कर्ता है, किन्तु राग का या पर का कर्ता नहीं है।

(१४४) "अकार्यकारणशक्ति" और पर्याय में उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमें अकार्यकारणशक्ति है; मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य करे—ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नहीं है। अरे! अंतर् में ज्ञान कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे, अथवा तो राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नहीं है।—ऐसी अकार्यकारण-शक्ति आत्मा में है।

प्रश्नः—अकार्यकारणपना तो द्रव्य में ही है न?

उत्तरः—द्रव्य में अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने?—पर्याय ने। जिस पर्याय ने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारणशक्ति को

माना, वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्यकारण-रूप हो गई है; इस प्रकार पर्याय में भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई उस पर्याय में राग का या पर का कर्तृत्व नहीं है, वह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

(१४५) आत्मा पर का उत्पादक नहीं है

देखो, भाई! जिसे अपने आत्मा का हित करने की गरज हुई हो—ऐसे जीव के लिये यह वात है। अन्तर की लोकोत्तरदृष्टि की यह बात है; लौकिक वात के साथ इस बात का मेल नहीं जम सकता। लोकव्यवहार में तो आजकल ऐसी योजनायें चल रही हैं कि—"अनाज का उत्पादान बढ़ाओ और वस्ती का उत्पादन कम करो।" किन्तु यहाँ तो लोकोत्तारदृष्टि की बात है कि भाई! तू पर का उत्पादक नहीं है, तू तो ज्ञान है। "अरे! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ"—ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले हैं;—ऐसों की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर का उत्पन्न होना रोके— ऐसा माननेवाले भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी को तो अन्तर में राग का भी अकर्तृत्व है—यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है।

(१४६) "सब मानें तो सच्चा"—यह बात झूठ है। (सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्न:—सब लोग हाँ कहें तो आपकी बात सच्ची है!

उत्तर—अरे भाई! हमारे तो पंचपरमेष्ठी ही पंच हैं, इसलिये जो पंचपरमेष्ठी मानें वह सच है। दुनिया के अज्ञानी लोग भले ही कुछ और मानें।

जैसा प्रश्न यहाँ किया वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजी के उपादान–निमित्त के दोहे में किया है; वहाँ निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोकों सबै जानते हैं जगलोय;
तेरो नांव न जानहि उपादान को होय ? ॥ ४ ॥

—हे उपादान ! जगत में घर-घर जाकर लोगों से पूछें तो सब मेरा ही नाम जानते हैं—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा सब मानते हैं, किन्तु उपादान क्या है उसका तो नाम भी नहीं जानते।

तब उसके उत्तर में उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करै गुमान ?
मोकों जानें जीव वे जो हैं सम्यक्वान ॥ ५ ॥

—अरे निमित्त! तू गुमान किसलिये करता है ? जगत के अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जानें, किन्तु जो सम्यक्वंत ज्ञानी जीव हैं वे मुझे जानते हैं।

निमित्त कहता है कि जगत से पूछें; उपादान कहता है कि ज्ञानी से पूछें।

उसी प्रकार निमित्त फिर से कहता है कि—

कहैं जीव सब जगत के जो निमित्त सोइ होय ।
उपादान की बात को पूछे नाहीं कोय ॥ ६ ॥

—जैसा निमित्त हो वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगत के सभी जीव कहते हैं, किन्तु उपादान की बात को तो कोई पूछता भी नहीं है।

तब उसे उत्तर देते हुए उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काज ।
कहा भयौ जग ना लखे जानत हैं जिनराज ॥ ८ ॥

—अरे निमित्त ! उपादान के विना एक भी कार्य नहीं हो सकता, अर्थात् उपादान से ही कार्य होता है।—जगत के अज्ञानी-जीव इसे न जानें उससे क्या हुआ ?—जिनराज तो ऐसा जानते हैं।

उसी प्रकार यहाँ, "आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूप से वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें"—यह बात दुनिया के अज्ञानी जीव न

समझें और उसका स्वीकार न करें तो उससे क्या? किन्तु पंच-परमेष्ठीभगवन्त उसके साक्षी हैं; उन्होंने इसी प्रकार जाना है और इसी प्रकार कहा है; और जिस जीव को अपना हित करना हो—पंच-परमेष्ठी की श्रेणी में बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करना ही पड़ेगी।

(१४७) "गोशाला का मत?"—या जैनशासन का मर्म?

यह तो जैनशासन की मूल बात है। इस बात को "गोशाला का मत" कहनेवाला जैनशासन को नहीं जानता। प्रथम तो "गोशाला" था ही कब? और यह बात तो अनेकों बार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ बिना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नहीं है। सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की और ज्ञाता हुआ, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय है, और उसीने जैनशासन को जाना है।

(१४८) कर्ता–कर्म का अन्य से निरपेक्षपना

उत्पाद्यवस्तु स्वयं ही अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है, अन्य कोई उत्पादक नहीं है; वस्तु में ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणमित होने की शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है; तो उसमें दूसरा क्या करे? और यदि वस्तु में स्वयं में वैसी शक्ति न हो—योग्यता न हो—स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमें क्या करे? इसलियें अन्य से निरपेक्षपने से ही कर्ता–कर्मपना है। पहले कर्ता–कर्म अधिकार में आचार्यदेव यह बात कह गये हैं कि "स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वयं न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमित को तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।" (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, पं. बनारसीदासजी भी कहते हैं कि :—

> उपादान बल जहाँ—तहाँ, नहि निमित्त को दाव ।
> एक चक्रसों रथ चले, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें निमित्त का कोई दाव–पेंच नहीं है; "निमित्त के कारण कार्य हुआ"—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नहीं; जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। "ऐसा क्यों ?" कहते हैं—उपादान की वैसी ही योग्यता। "निमित्त के कारण हुआ ?" —कहते हैं नहीं।

(१५०) "–निमित्त बिना........??"

प्रश्न :—निमित्त कुछ नहीं करता यह सब, किन्तु क्या निमित्त के बिना होता है ?

उत्तर :– हाँ, भाई ! उपादान के कार्य में तो निमित्त का अभाव है, इसलिये वास्तव में निमित्त के बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्त में है, उपादान में तो उसका अभाव ही है, उस अपेक्षा से निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आये वहाँ उपादान–निमित्त का भेदज्ञान समझने के बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि—"अरे! निमित्त का निषेध हो जाता है !" भाई रे ! इसमें निमित्त के अस्तित्व का निषेध नहीं होता, निमित्त तो निमित्तरूप से ज्यों का त्यों रहता है। तू निमित्त को निमित्त रूप से रख, उसे उपादान में मत मिला। अज्ञानी निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ताकर्मरूप से मानकर, उपादान–निमित्त की एकता कर डालते हैं।

"—कार्य होता तो है उपादान से, किन्तु कहीं निमित्त के बिना होता है ?

—शरीर की क्रिया होती शरीर से है, किन्तु कहीं जीव के बिना होती है ?

—विकार करता है जीव स्वयं, किन्तु कहीं कर्म के बिना होता है ?

—ज्ञान होता है स्वयं से, किन्तु कहीं गुरु के बिना होता है ?

—मोक्ष होता है जीव के उपादान से, किन्तु कहीं मनुष्यदेह के बिना होता है ?"

—इस प्रकार कितने ही दलील करते हैं; किन्तु भाई ! उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है—ऐसा जो वास्तव में जानता है उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है; इसलिये "निमित्त के बिना..." का प्रश्न उसे नहीं रहता। वह तो जानता है कि उपादान से कार्य होता है, और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है,—"गतेः धर्मास्तिकायवत्।" (देखो श्री. पूज्यपादाचार्यदेवकृत इष्टोपदेश गाथा–३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओं को मानता ही नहीं, निमित्त को जानता ही नहीं, ऐसे अन्यमतो को निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये "निमित्त के बिना नहीं होता"—ऐसी दलील से समझाया जाता है; किन्तु जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान की बात चलती हो, उपादान–निमित्त की स्वतंत्रता का वर्णन चलता हो, वहाँ बीच में "निमित्त के बिना नहीं होता"—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है। "निमित्त होता ही है" फिर "निमित्त के बिना नहीं होता"—इस दलील का क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० में आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन को आधारभूत नहीं हूँ, उनका कारण मैं नहीं हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ; मेरे बिना ही, अर्थात् मैं उन शरीरादि का आधार हुए बिना, कारण हुए बिना, कर्ता हुए बिना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए बिना, वे स्वयं

अपने–अपने से ही होते हैं, इसलिये मैं उन शरीरादि का पक्षपात छोड़कर (अर्थात् मेरे निमित्त विना वे नहीं हो सकते—ऐसा पक्षपात छोड़कर) अत्यंत मध्यस्थ–साक्षीस्वरूप—ज्ञायक हूँ।

(देखो, प्रवचनसार गाथा १६०)

(१५१) इस उपदेश का तात्पर्य और उसका फल

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! सर्व द्रव्यों को दूसरे के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है इसलिये तू ज्ञाता ही रह। "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव अपने सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि कार्यरूप से उत्पन्न होता है इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि पर का उत्पादक नहीं है।—इसप्रकार जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहाँ—

ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

आनन्दगुण अपने आनंदपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ;

—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर परिणमित होने से श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र–वीर्यादि समस्त गुणों की निर्मल परिणमनधारा वढ़ने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभाव की और क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति का फल!

❀ सातवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला ३, वीर सं. २४८०]

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तुधर्म है, वह केवली-भगवान का उदर है, सन्तों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी" है तब यहाँ कहते हैं कि यह तो सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ"—ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकार का नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली चार गाथाओं की वचनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो, ज्ञायकद्रव्य का अधिकार कहो, या क्रमबद्धपर्याय का अधिकार कहो; जहाँ ज्ञायकद्रव्य को पकड़कर ज्ञान एकाग्र हुआ वहाँ वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया, और उस ज्ञान के विषयरूप से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय है उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) "क्रमबद्ध" और "कर्मबन्ध"!

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय की बात छह दिन से चल रही है, और आज सातवाँ दिन है; बहुत-बहुत पक्षों से स्पष्टीकरण हो गया है; तथापि कुछ लोगों को यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते हैं कि—"महाराज! आप क्या कहते हो, "कर्मबंध" मानना यह सम्यग्दर्शन है—ऐसा आप कहते हो?"– अरे भाई! यह "क्रमबद्ध" अलग और "कर्मबंध" अलग! दोनों के बीच विशाल

अन्तर है। कर्मबंधरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तु की पर्याय में क्रमबद्धता किस प्रकार है उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो। इस "क्रमबद्ध" को समझ ले तो "कर्मबंध" का नाश हो, और जो "क्रमबद्ध" को न समझे उसे "कर्मबंध" होता है।

(१५४) "ज्ञायक" और "क्रमबद्ध" दोनों का निर्णय एकसाथ

जीव में या अजीव में प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है वही होती है; पहले होनेवाली पर्याय बाद में नहीं होती, और बाद में होनेवाली पर्याय पहले नहीं होती। अनादि-अनंत कालप्रवाह के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं; उनमें जिस समय जिस पर्याय का नम्बर (क्रम) है उस समय वही पर्याय होती है। जिस प्रकार सात वारों में रविवार के बाद सोमवार और फिर मंगलवार-इस प्रकार ठीक क्रमबद्ध हो आते हैं उल्टे सीधे नहीं आते; उसी प्रकार एक से सौ तक के नंबरों में १ के बाद २, ५० के बाद ५१, ९९ के बाद १००,—इस प्रकार सब क्रमबद्ध ही आते हैं; उसी प्रकार द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायों में जो ५१वीं पर्याय होगी वह ५०वीं या ५२वीं नहीं होती, और जो '५२'वीं हो वह ५१वीं नहीं होती। अर्थात् पर्याय के क्रमबद्धपने में कोई भी पर्याय बीच से हटकर आगे-पीछे नहीं होती। जिस प्रकार पदार्थ की पर्याय का ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वरूप है। मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूप के निर्णय के साथ क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाता है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप और पर्यायों का क्रमबद्धस्वरूप—इन दो में से एक को भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेय का मेल नहीं रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनों का निर्णय एकसाथ ही होता है।—कब होता है?—जब ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तब।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है?

अभी तो जिसने यथार्थ गुरुगम से ऐसी बात का श्रवण भी

नहीं किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँ से करेगा ? और सत्य का ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचि का परिणमन कहाँ से होगा ? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बात का श्रवण और पोषण कर रहे हैं, उनके सत्यरुचि के परिणमन की योग्यता नहीं है। जिसके अंतर की महान पात्रता और पुरुषार्थ हो उसीको यह बात परिणमित होती है।

(१५६) धर्म का पुरुषार्थ

उत्पाद–व्यय–ध्रुवयुक्तं सत्, और सत् वह द्रव्य का लक्षण है; उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात का समावेश हो जाता है; क्रमबद्धपर्याय के बिना उत्पाद–व्यय नहीं हो सकते। प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने-अपने काल में एक समय पर्यन्त सत् है। अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता, किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। अनेक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्ध-पर्याय में धर्म का पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? उनसे कहते हैं कि भाई ! सम्यक्श्रद्धा—ज्ञान के अंतरपुरुषार्थ बिना यह बात निश्चत् ही नहीं होती। "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी दृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान करेगा कौन ? ज्ञान के निर्णय बिना ज्ञेय का निर्णय होता ही नहीं। ज्ञान के निर्णय सहित क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो अनन्त पदार्थों में कहीं भी फेरफार करने का अनंता अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही रहे।—इसीमें मिथ्यात्व के और अनन्तानुबन्धी-कषाय के नाश का पुरुषार्थ आ गया। यही धर्म के पुरुषार्थ का स्वरूप है, अन्य कोई बाहर का पुरुषार्थ नहीं है।

(१५७) "क्रमबद्ध" का निर्णय और उसका फल

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किसे होता है ? और उसका फल क्या ?

—जिसकी वुद्धि ज्ञायकभाव में एकाग्र हुई है, और राग में या पर का फेरफार करने की मान्यता में रुक गई नहीं है, उसीको क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ है, और उस निर्णय के साथ उसे पुरुषार्थादि पाँचों समवाय (पूर्वोक्त प्रकार से) आ जाते हैं। और, स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रमबद्धप्रवाह प्रारम्भ हो जाता है—यही उसका फल है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कहो, क्रमवद्धपर्याय का निर्णय कहो, या मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो,—तीनों एकसाथ ही हैं; उनमें से एक हो और दूसरे दो न हों—ऐसा नहीं हो सकता।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसका जो अनादि अनन्त जीवन है उसमें तीनोंकाल की पर्यायें एकसाथ प्रगट नहीं हो जातीं, किन्तु एक के वाद एक प्रगट होती है, और प्रत्येक समय की पर्याय व्यवस्थित क्रम-वद्ध है। ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ के केवल-ज्ञान का निर्णय हुआ और अपने ज्ञानमें वैसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता में इन सवका निर्णय एकसाथ हो जाता है। अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करने से पर्याय की क्रमबद्धता का निर्णय भी हो जाता है; अक्रमरूप अखण्ड द्रव्य की दृष्टि विना पर्याय की क्रमवद्धता का यथार्थज्ञान नहीं होता।

भगवान! द्रव्य त्रिकाली सत् है, और पर्याय एक-एक समय का सत् है; वह सत् जैसा है उसे वैसा ही जानने का तेरा स्वभाव है; किन्तु उसमें कहीं उलटा-सीधा करने का तेरा स्वभाव नहीं है। अरे, सत् में "ऐसा क्यों?"—इस प्रकार विकल्प करने का भी तेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है और उसमें मोक्षमार्ग के पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(१५८) यह है संतों का हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव, और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय, —इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है, वह मूल वस्तु-धर्म है, वह केवलीभगवान का उदर है, संतों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है, विश्व का दर्शन है, और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह "छूत की बीमारी है, तब यहाँ कहते हैं कि यह सर्वज्ञ का हार्द है; जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये,—वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ" —ऐसा उसे निर्णय हो गया।

अभी जिन्होंने ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं किया, अरे! यह बात सुनी भी नहीं, और यों ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है, उन्हें धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्म की रीति क्या है—इसकी भी उन्हें खबर नहीं है।

(१५९) जो यह बात समझ ले उसकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की बात है, इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्या, पुरुषार्थ क्या, सम्यग्दर्शन क्या,—यह सब साथ ही आ जाता है, और इस दृष्टि में तो गृहीत या अगृहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं करता, पुरुषार्थ को नहीं मानता, सम्यग्दर्शन नहीं करता और "जो होना होगा वह होगा"—इस प्रकार एकान्त नियत को पकड़कर स्वच्छन्दी होता है, वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है। यह बात समझे उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नहीं, उसकी तो दृष्टि का सारा परिणमन ही बदल जाता है।

(१६०) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता; क्योंकि

क्रमबद्धपना समय–समय की पर्याय में है, और छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है, उस असंख्य समय के उपयोग में एक–एक समय की पर्याय पृथक् करके नहीं पकड़ी जा सकती, किन्तु ध्रुव-ज्ञायकस्वभाव में उपयोग एकाग्र हो सकता है। इसलिये समय–समय की पर्याय का क्रमबद्धपना पकड़ते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञायक की प्रतीति में क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति भी हो जाती है।–इस प्रकार इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप! पदार्थ का जैसा स्वरूप हो वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो। समस्त पदार्थों की तीनोंकाल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है; सर्वज्ञभगवान ने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष इस प्रकार जाना है और वाणी में भी वैसा ही कहा है; इस प्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी तीनों समान हैं। पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसा ही ज्ञान में देखा, और जैसा ज्ञान में देखा वैसा ही वाणी में आया;—ऐसे वस्तुस्वरूप से जो विपरीत मानता है–आत्मा कर्ता होकर पर की पर्याय वदल सकता है–ऐसा मानता है वह पदार्थ के स्वभाव को नहीं जानता; सर्वज्ञ के केवलज्ञान को नहीं जानता और सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को भी वह नहीं जानता; इसलिये देव–गुरु–शास्त्र को उसने वास्तव में नहीं माना है।

इस "क्रमवद्धपर्याय" के सम्बन्ध में आजकल अनेक जीवों का कुछ निर्णय नहीं है, और बड़ी गड़बड़ी चल रही है, इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारों से उसकी स्पष्टता की गई है।

(१६२) स्वच्छन्दी के मत का मेल (१)

प्रश्नः—आप कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा वैसा क्रमवद्ध होगा; तो फिर हमारी पर्याय में मिथ्यात्व भी जैसा क्रमबद्ध होना होगा वैसा होगा!

उत्तर :—अरे मूढ़ ! तुझे सर्वज्ञ को मानना नहीं है और स्वच्छंद का पोषण करना है !—निकाल दे अपने मन का मैल !! सर्वज्ञ का निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे—यह कहाँ से लाया ? तूने सर्वज्ञ का निर्णय ही नहीं किया है। इसलिये अंतर का मैल निकाल दे... गोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभाव के निर्णय का उद्यम कर। ज्ञान-स्वभाव के निर्णय बिना "क्रमबद्ध" की बात तू कहाँ से लाया ? मात्र "क्रमबद्ध" शब्द को पकड़ रखने से नहीं चलेगा। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्ध को माने तो अपनी पर्याय में मिथ्यात्व रहने का प्रश्न ही न उठे, क्योंकि उसकी पर्याय तो अंतर्स्वभावोन्मुख हो गई है, उसे अब मिथ्यात्व का क्रम हो ही नहीं सकता, और सर्वज्ञभगवान भी ऐसा देख ही नहीं सकते।

जिसे ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है, सर्वज्ञदेव का निर्णय नहीं है और उस प्रकार का उद्यम भी नहीं करता, विकार की रुचि नहीं छोड़ता और मात्र भाषा में "क्रमबद्धपर्याय" का नाम लेकर स्वच्छन्दी होता है, वैसा जीव तो अपने आत्मा को ही ठगता है। अरे ! जो परमवीतरागता का कारण है उसकी ओट लेकर स्वच्छन्द का पोषण करता है यह तो महान विपरीतता है।

(१६३) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

एक त्यागी—पंडितजी ने विद्यार्थी पर खूब क्रोध किया; जब किसीने उनसे कहा तो वे बोले कि—"अरे भैया ! तुमने गोम्मटसार नहीं पढ़ा, गोम्मटसार में ऐसा लिखा है कि जब क्रोध का उदय आता है तब क्रोध हो ही जाता है।" देखो, यह गोम्मटसार पढ़कर सार निकाला ! अरे भाई ! तू गोम्मटसार की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द की पुष्टि करनेवाले के लिये वह कथन नहीं है। पहले तो क्रोधादिकषाय होने का भय रहता था और अपने दोषों की निंदा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नहीं रहा ! भाई !

शास्त्र का उपदेश तो वीतरागता के लिये होता है या कषाय बढ़ाने के लिये? अज्ञानदशा में जैसा कषाय था वैसे ही कषाय में खड़ा हो तो उसने शास्त्र पढ़े ही नहीं; भले हो वह गोम्मटसार का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह गोम्मटसार को नहीं मानता।

(१६४) स्वच्छन्दी के मन का मैल (३)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्याय की बात में लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि—"क्या किया जाये भाई? हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी!" क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने के बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छंदी है, वह क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है। अरे भाई! तू क्रमबद्धपर्याय की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छंद का पोषण करनेवाले के लिये यह बात नहीं है। पहले तो क्रोधादि कषाय का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नहीं रहा? भाई रे! यह क्रमबद्धपर्याय का उपदेश तो अपने ज्ञायकभाव की दृष्टि करने के लिये है या विकार की रुचि का पोषण करने के लिये? जो विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नहीं करता वह जीव क्रमबद्धपर्याय की बात समझा ही नहीं है; भले ही क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, किन्तु वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय को मानता ही नहीं है।

इसलिये हे भाई! अपने मन का मैल निकाल दे, स्वच्छन्द का बचाव छोड़ दे और विकार की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा!

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ कैसे होती है?

उत्तरः—"मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञाता की ओर ढलकर, अपनी दृष्टि को ज्ञायकस्वभाव की ओर मोढ़ दे उसीको क्रमबद्धपर्याय को

सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नहीं होती। इस प्रकार क्रमबद्ध-पर्याय माननेवाले की दृष्टि क्रोधादि पर नहीं होती, किन्तु ज्ञायक पर ही होती है; और ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में क्रोधादि नहीं रहते। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का ऐसा परिणमन हुए बिना जीव को सच्चा सन्तोष और समाधान नहीं होता; और सम्यक्त्वी को ऐसी दृष्टि का परिणमन होने से उनके सब समाधान हो गये हैं; ज्ञायकपने के परिणमन में उन्हें किसीका अभिमान भी नहीं रहा, और अपने में प्रमाद भी नहीं रहा तथा उतावल भी न रही। ज्ञातापने के परिणमन की ही धारा चल रही है उसमें व्याकुलता भी कैसी? और प्रमाद भी कैसा?—ऐसी सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा है।

(१६६) ज्ञातापने से च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता–भगवान, और सामने पदार्थों का क्रमबद्धपरिमन—उनका आत्मा ज्ञाता ही है, ऐसा मेल है; उसके बदले वह मेल तोड़कर (अर्थात् स्वयं अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर पर के क्रम को बदलना चाहता है, वह जीव पर के क्रम को तो नहीं बदल सकता किन्तु उसकी दृष्टि में विषमता (मिथ्यात्व) होती है। ज्ञायकपने का निर्मल प्रवाह चलना चाहिये उसके बदले विपरीतदृष्टि के कारण वह विकार के कर्तृत्वरूप से परिणमित होता है।

(१६७) सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान कब होते हैं?

जिसे अपना हित करना हो,—ऐसे जीव के लिये यह बात है। हित सत्य से होता है किन्तु असत्य से नहीं होता। सत्य के स्वीकार बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता, और सम्यक्ज्ञान के बिना धर्म या हित नहीं होता। जिसे अपने ज्ञान में से असत्यपना टालकर सत्यपना करना हो उसे क्या करना चाहिये?—उसकी यह बात है।

जैसा पदार्थ है वैसो ही उसकी श्रद्धा करे, और जैसी श्रद्धा है वैसा ही पदार्थ हो, तो वह श्रद्धा सच्ची है; इसी प्रकार जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका ज्ञान करे, और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह ज्ञान सच्चा है ।

"आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप है, और पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं परिणमित होनेवाले हैं; यह "ज्ञायक" अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसी के क्रम को बदलकर आगे-पीछे करनेवाला नहीं है"—ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हों, इसलिये हित और धर्म हो ।

(१६८) मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान का विषय जगत में नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि "मैं कर्ता होकर पर की अवस्था को बदल दूं, अर्थात् मेरा पर के साथ कार्यकारणपना है"—तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है । मिथ्याश्रद्धा का (और मिथ्याज्ञान का) विषय जगत में नहीं है । जिस प्रकार जगत में "गधे का सींग" कोई वस्तु ही नहीं है, इसलिये "गधे का सींग" ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है । उसी प्रकार "पर के साथ कार्यकारणपना हो"—ऐसी कोई वस्तु ही जगत में नहीं है, तथापि "मैं पर का करूँ"—इस प्रकार जो पर के साथ कार्यकारणपना मानता है उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही हैं; क्योंकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगत में नहीं है । यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि-जिस प्रकार "गधे का सींग" और पर के साथ कार्यकारणपना जगत में नहीं है उसी प्रकार मिथ्या श्रद्धा भी नहीं है । मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान तो अज्ञानी की पर्याय में हैं, किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगत में नहीं है । अज्ञानी की पर्याय में मिथ्या श्रद्धा तो "सत्" है, किन्तु उसका विषय "असत्" है अर्थात् उसका कोई विषय जगत में नहीं है ।

देखो, यहाँ कहा है कि—"मिथ्याश्रद्धा सत् है" इसका क्या मतलब?—कि जगत में मिथ्याश्रद्धा का अस्तित्व (सत्पना) है, मिथ्याश्रद्धा है ही नहीं—ऐसा नहीं है; किन्तु उस मिथ्याश्रद्धा के अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगत में नहीं है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तु का स्वरूप हो तो उसे मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।

(१६९) इसमें क्या करना आया?

यहाँ एक बात चल रही है कि आत्मा का ज्ञायकपना और सर्व वस्तुओं की पर्यायों का क्रमबद्धपना माने बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते, और सच्चे श्रद्धा-ज्ञान बिना हित या धर्म नहीं होता।

कोई पूछे कि इसमें क्या करना आया?—तो उसका उत्तर यह है कि—पहले पर का कर्तृत्व मानकर विकार में एकाग्र होता था, उसके बदले अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके ज्ञाता-दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापने में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी साथ ही है।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टि का परिणमन ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ उसमें पुरुषार्थ कहीं अलग नहीं रह जाता; पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वसन्मुख पुरुषार्थ, या सम्यग्दर्शन—यह सब कहीं पृथक्-पृथक् नहीं है किन्तु एक ही हैं। इसलिये कोई ऐसा कहे कि "हमने ज्ञायक का और क्रमबद्ध का निर्णय तो कर लिया, किन्तु अभी सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना बाकी है," तो उसका निर्णय सच्चा नहीं है; क्योंकि यदि ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ उसमें आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह

स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से शुक्लध्यान होता है, तथापि वह क्रमबद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमबद्ध है।

इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं करता उसे क्रमबद्ध-पर्याय में निर्मल प्रवाह प्रारंभ नहीं होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय किये बिना किसीको भी निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाये—ऐसा नहीं होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमें जोर कहाँ आया? अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलंबन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाह की ओर देखकर बैठा रहना नहीं आया किन्तु ज्ञायक की ओर देखकर उसमें एकाग्र होना आया। ज्ञानी की दृष्टि का जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नहीं है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टि का जोर है; और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अंतर में अपने ज्ञायकस्वभाव को ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष का कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या पर को बदलना है?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ उसका

फल वीतरागता है, और वहीं जैनशासन का सार है। जिन्हें ज्ञान-स्वभाव की खबर नहीं है, सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है;—ऐसे लोग इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बंध में ऐसी दलील करते हैं कि—"ईश्वर का कर्तृत्व माने वहाँ तो भक्ति आदि से ईश्वर को संतुष्ट करके उसमें फेरफार भी कराया जा सकता है, किन्तु यह क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमें फेरफार नहीं कर सकता!"—अरे भाई! तुझे अपने में ज्ञायकरूप से रहना है या किसी में फेरकार करने जाना है? क्या पर में कहीं फेर-फार करके तुझे सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है। तुझे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को मानना है या नहीं? ज्ञानस्वभावी आत्मा के पास से ज्ञाता–दृष्टापने के अतिरिक्त दूसरा कौनसा काम तुझे लेना है? ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूप से परि-णमित होने में संपूर्ण मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पाँचों समवाय आजाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञातापना होजाये और पर के कर्तृत्व का अभिमान उड़ जाये; इसलिये पर के प्रति एकत्ववुद्धि के अनन्तानुवंधी राग–द्वेष, हर्ष–शोक का तो भुक्का हो गया। राग का और पर का संग छोड़कर, अन्तर में ज्ञायकस्वभाव *का संग करे उसे ज्ञेयों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है* इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है; एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग–द्वेष उसे कहीं होते ही नहीं। शिष्य की ज्ञानादि पर्याय उसके अपने से क्रम-बद्ध होती है, मैं उसका क्या करूँ?—मैं तो ज्ञाता ही हूँ;—ऐसा जाना वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धि से राग या द्वेष (—शिष्य होशियार हो तो राग, और उसे न आये तो द्वेष) होता ही नहीं; और इस प्रकार ज्ञानी को कहीं भी एकत्वबुद्धि से रागादि नहीं होते; उसके तो अपने ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि से निर्मल ज्ञानादिपरिणाम ही होते हैं।

ज्ञायकभाव का जो परिणमन हुआ वही उसका स्वकाल है, वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है, और उसमें कर्म का अभाव है। इस प्रकार ज्ञायकभाव के परिणमन में ज्ञानी के एक साथ पाँचों समवाय आ जाते हैं।

(१७५) यहाँ जीव को उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमबद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अपनी पर्याय के साथ कार्य—कारणपना है, किन्तु पर के साथ कारण—कार्यपना नहीं है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के कारण—कार्य का अभाव है। इस द्रव्य में अपनी क्रमवद्धपर्याय का कार्य-कारणपना प्रतिसमय हो रहा है, और उसी समय सामने जगत के अन्य द्रव्यों में भी अपनी—अपनी पर्याय का कारण—कार्यपना बन ही रहा है; किन्तु सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ कारण—कार्यपने का अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मैं कारण होकर पर का कुछ भी कर दूँ—ऐसा गर्व कहाँ रहता है? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायकस्वभावोन्मुखता हो जाये। जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करने के लिये यह बात समझाते हैं। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नहीं है, प्रत्येक वस्तु क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं ही उत्पन्न होती है—उसकी जिसे खबर नहीं है, और रागादि द्वारा पर की अवस्था में फेरफार करना मानता है ऐसे जीव को समझाते हैं कि अरे जीव! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है; जगत के पदार्थों की जो क्रमवद्धअवस्था होती है उसका तू बदलनेवाला या करनेवाला नहीं है किन्तु जाननेवाला है; इसलिये अपने ज्ञातास्वभाव को प्रतीति कर और ज्ञातारूप से ही रह;—अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र हो; यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीव को अजीव के साथ कारण—कार्यपना नहीं है।

जगत के पदार्थों में स्वाधीनरूप से जो क्रमवद्धअवस्था होती

है वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्था को आत्मा नहीं बदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ, साथ में अजीव की अवस्था को भी कर दे ऐसा नहीं होता। आत्मा और जड़ दोनों में प्रतिसमय अपना-अपना नया-नया कार्य उत्पन्न होता है, और वे स्वयं उसमें तद्रूप होने से उसका कारण हैं; इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने में समय-समय नया-नया कार्य-कारणपना बन ही रहा है; तथापि उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्य-कारणपना नहीं है। जैसा ज्ञान हो वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हों वैसा ही यहाँ ज्ञान होता हो तथापि ज्ञान को और शब्द को कारण-कार्यपना नहीं है। इच्छानुसार भाषा निकाले वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई; अथवा शब्दों के कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ—ऐसा वह मानता है; किन्तु दोनों के स्वाधीन परिणमन को वह नहीं जानता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये-नये कारण-कार्यरूप से परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते हैं, तथापि उनको परस्पर कार्य-कारणपना नहीं है; अपने कार्य-कारण अपने में और निमित्त के कारण-कार्य निमित्त में। भेदज्ञान से ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञान का विषय सच्चा हो, इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये।

(१७७) भूले हुओं को मार्ग बतलाते हैं, रोगी का रोग हैं मिटाते

ज्ञायकस्वभाव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, उसके बदले क्रमबद्ध को एकान्त-नियत कहकर जो उसका निषेध करता है वह अपने ज्ञायकत्व का ही इन्कार करता है और केवलज्ञान को उड़ाता है। भाई! तू एकबार अपने ज्ञायकत्व का तो निर्णय कर....ज्ञायक का निर्णय करने से तुझे क्रमबद्ध की प्रतीति भी हो जायेगी, इसलिये अनादिकालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक् परिणमन प्रारंभ हो जायेगा। इस प्रकार विपरीतमार्ग से छुड़ाकर स्वभाव के सीधे मार्ग

पर चढ़ाने की यह वात है। जिस प्रकार कोई लग्नमंडप में जाने के बदले स्मशान में जा पहुँचे, उसी प्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की लगन लगाकर उसमें एकाग्र होने के वदले, मार्ग भूलकर "मैं पर का करूँ"—ऐसी विपरीतदृष्टि से भवभ्रमण के मार्ग पर चढ़ गया है। यहाँ आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व वतलाकर सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढ़ाते हैं। "मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ"—ऐसी ज्ञायक की लगन छोड़कर मूढ़ अज्ञानी जीव पर की कर्ताबुद्धि से, आत्मा की श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है ऐसे मिथ्यात्वरूपी स्मशान में जा पहुँचा है। आचार्यदेव उसे कहते हैं कि भाई! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविषयों में एकत्वबुद्धि के कारण तुझे आत्मा की श्रद्धा में क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करने की औषधि है; ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमवद्धपर्याय का निर्णय कर, तो तेरी कर्ताबुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आज-कल अनेक जीवों को यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है; यह निर्णय किये बिना भवभ्रमण का अनादि-कालीन रोग दूर नहीं हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव पर का अकर्ता है, मैं अपने ज्ञायकपने के क्रम में रहकर, क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे उसे अनन्त संसारभ्रमण के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नहीं होती।

(१७८) वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित?

भाई! तू विचार तो कर कि वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित?

यदि अव्यवस्थित कहें तो ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता; अव्य-वस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीनकाल का ज्ञान कैसे करेगा? मनःपर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत-भविष्य के विषयों को कैसे

जानेंगे ? ज्योतिषी ज्योतिष काहे की देखेगा ? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा ? हजारों लाखों या असंख्य वर्षों के बाद भविष्य की चौवीसी में यही चौवीस जीव तीर्थंकर होंगे—यह सब किस प्रकार निश्चित होगा ? सात वारों में किस वार के बाद कौन-सा वार आयेगा, और अट्ठाईस नक्षत्रों में किस नक्षत्र के बाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा—यह भी कैसे निश्चित् हो सकता है ? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहले से निश्चित् नहीं हो सकता, इसलिये उसका ज्ञान ही किसीको नहीं होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तु का परिणमन व्यवस्थित–क्रमबद्ध–नियमबद्ध ही है।

—और व्यवस्थितपरिणमन हो प्रत्येक वस्तु में है, तो फिर –आत्मा उसमें फेरफार कर दे—यह बात भी नहीं रहती, मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपने का निर्णय कर और पर को बदलने की बुद्धि छोड़—ऐसा उपदेश है। पर को अव्यवस्थित मानने से तेरा ज्ञान ही अव्यवस्थित हो जाता है, अर्थात् तुझे अपने ज्ञान की ही प्रतीति नहीं रहती। और जो ज्ञान की प्रतीति करे उसे पर को बदलने की बुद्धि नहीं रहती।

(१७९) ज्ञाता के परिणमन में मुक्ति का मार्ग

ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके, स्वसन्मुख ज्ञाताभाव-रूप से क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले जीव को पर के साथ (कर्म के साथ) कार्यकारणपना सिद्ध नहीं होता; वह कर्ता होकर अजीव का कार्य भी करे—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपने का जो परिणमन हुआ उसमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र आ जाते हैं, और वही मोक्ष का कारण है।

❁ आठवाँ प्रवचन ❁

[आश्विन शुक्ला ४, वीर सं. २४८०]

भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो...अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो।–इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है, अंतर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता करेगा तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों उपाय करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१८०) हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह !

आत्मा ज्ञायक है; जड़–चेतन के क्रमबद्धपरिणाम होते रहते हैं, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर पर में कर्तृत्व मानता है वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि-तुझे पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है; तू अजीव का कर्ता और अजीव तेरा कार्य—ऐसा नहीं है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, जिस समय जो पर्याय होना है उस समय वही होगी, वह आगे–पीछे या कम–अधिक नहीं हो सकती; द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे ? उसमें दूसरे की अपेक्षा क्या हो ? इसलिये हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभाव में अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्वसन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर; किन्तु मैं निमित्त होकर पर का काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड़ दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्त की दृष्टि छोड़ !

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "निमित्त होकर हम दूसरे का कार्य कर दें"—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई, वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वयं उससे होती है तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती

है—इसका नाम निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है। जड़ और चेतन समस्त द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये निमित्त से कुछ होता है—यह बात ही उड़ जाती है। आत्मा अजीव का कर्ता नहीं है;—इसे समझने का फल तो यह है कि तू पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायकआत्मा पर दृष्टि रख; स्वसन्मुख होकर आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति कर। "मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु निमित्त बनकर पर का कार्य करूँ"—यह बात भी इसमें नहीं रहती, क्योंकि ज्ञायकोन्मुख जीव पर की ओर नहीं देखता,—ज्ञायक की दृष्टि में पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का भी लक्ष छूट गया है; उसमें तो अकेले ज्ञायकभाव का ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के बहाने कर्ता—कर्मपना मान लेते हैं, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एकबार पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिकसम्बध को भी दृष्टि में से छोड़कर अकेले ज्ञायकस्वभाव को ही दृष्टि में ले, दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक में एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अंतर की सूक्ष्म बात है, उसमें "निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नहीं होता"—ऐसी स्थूल बात तो कहीं दूर रह गई!—उसे अभी निमित्त को ढूँढ़ना है, किन्तु ज्ञायक को नहीं ढूँढ़ना है, अंतर में ज्ञायकोन्मुख नहीं होना है। जिसे अपने ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं है वह जीव निमित्त बनकर पर को बदलना चाहता है। भाई! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है;—फिर उसमें कोई किसी का निमित्त होकर उसके क्रम में कुछ फेरफार कर दे—यह बात कहाँ रही! क्रमबद्धपर्याय से रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे? द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय से रहित कोई समय नहीं है। इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह

जा। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओं का नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले द्रव्यों का अकार्य-कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़ अपने-अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होते हैं; इस प्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम के साथ तद्रूप हैं, किन्तु अन्य के साथ उन्हें कारणकार्यपना नहीं है। इसलिये जीव कर्ता होकर अजीव का कार्य करे—ऐसा नहीं होता, इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस-उस समय की क्रमबद्धपर्याय के साथ अनन्य है; यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय में हाथ डाले तो उसे पर के साथ अनन्यपना हो जाये, इसलिये भेदज्ञान न रह कर दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई! क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करेगा? —ऐसी समझ वह भेदज्ञान का कारण है। वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है, उसमें दूसरा कुछ हो सके ऐसा नहीं है; दूसरे प्रकार से माने तो मिथ्याज्ञान होता है।

(१८३) भेदज्ञान के बिना निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध का ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह इस शरीर की उँगली ऊँची-नीची होती है वह अजीव-परमाणुओं की क्रमबद्धपर्याय है, और उस पर्याय में तन्मयरूप से अजीव उत्पन्न हुआ है, जीव उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये आत्मा ने उँगली की पर्याय में कुछ किया—यह बात झूठ है। और इस प्रकार छहों द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से परिणमित होते हैं,—ऐसी स्वतंत्रता जानकर भेदज्ञान करे तभी, निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध का यथार्थ ज्ञान होता है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नहीं होता— ऐसा माने तो वहाँ निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध सिद्ध नहीं होता, किन्तु कर्ताकर्मपने की मिथ्यामान्यता हो जाती है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है

—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा माननेवाले हैं वह जीव-द्रव्य के क्रमबद्धस्वतंत्रपरिणमन को न जाननेवाले, ज्ञानस्वभाव को न माननेवाले, और पर में कर्तृत्व माननेवाले मूढ़ हैं।

(१८४)—"किन्तु व्यवहार से तो कर्ता है न....!"

"व्यवहार से तो निमित्त कर्ता है न ?" ऐसा अज्ञानी कहते हैं; किन्तु भाई ! "व्यवहार से तो कर्तापना है"—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है ? व्यवहार के नाम से तुझे अपनी एकता-बुद्धि ही दृढ़ करना है ? "किन्तु व्यवहार से कर्ता" यानी वास्तव में अकर्ता—ऐसा तू समझ। एक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय के समय दूसरी वस्तु भी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई निमित्तरूप से भले हो, यहाँ जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त है, वे दोनों सुनिश्चित् ही हैं।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है उसे "निमित्त आये तो होता है, और न आये तो नहीं होता"—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

(१८५) सम्यग्दर्शन की सूक्ष्म बात

दूसरे—यहाँ तो इससे भी सूक्ष्म बात यह है कि, ज्ञायक पर दृष्टि करने से निमित्त–नैमित्तिकसंबन्ध की दृष्टि भी छूट जाती है। निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध पर ही जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; और जबतक पर के ऊपर दृष्टि है तबतक निर्विकल्पप्रतीतिरूप सम्यक्त्व नहीं होता। अकेले ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर एकाग्र हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनंद का वेदन होता है।—ऐसी दशा बिना धर्म का प्रारंभ नहीं होता।

(१८६) जिसे आत्महित करना है उसे वदलना ही पड़ेगा !

अहो, आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात !! ऐसी वात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी

तुलना करना वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है ! "स्याद्वाद नहीं है, एकान्त है, नियत है, छूत की बीमारी है"—इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभीको बदलना पड़ेगा, यह बात तीनकाल में नहीं बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हों तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हें आत्मा का हित करना है तो।

(१८७) गम्भीर रहस्य का दोहन

आचार्यभगवान ने इन चार गाथाओं में (३०८ से ३११ में) पदार्थस्वभाव का अलौकिक नियम रख दिया है, और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अद्भुत की है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने संक्षेप में द्रव्यानुयोग को गंभीरतापूर्वक समा दिया है, और अमृतचंद्राचार्यदेव ने टीका में उसका रहस्य खोल दिया है। जिस प्रकार भैंस के पेट में जो दूध भरा हो वही दुहने से बाहर आता है, उसी प्रकार सूत्र में और टीका में जो रहस्य भरा है उसीका यह दोहन हो रहा है, जो मूल में है उसीका यह विस्तार है।

(१८८) संपूर्ण द्रव्य को साथ ही साथ रखकर अपूर्व बात !

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि अजीव के साथ उसे कारण-कार्यपना नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि "दवियं जं उप्पज्जइ"....अर्थात् प्रतिसमय अपने नये-नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वयं उत्पन्न होता है। पहले समय में कारण-कार्यरूप से जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, वे चारों दूसरे समय में कुलाँट मारकर दूसरे समय के कारण-कार्यरूप से परिणमित हो जाते हैं; अकेले परिणाम ही पलटते हैं और द्रव्य नहीं पलटता—ऐसा नहीं है; क्योंकि परिणामरूप से द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है। चक्की के दो पाटों की भाँति द्रव्य और पर्याय में भिन्नत्व नहीं है; इसलिये जिस प्रकार चक्की में ऊपर का पाट घूमता है और

नीचे का बिलकुल स्थिर रहता है—ऐसा नहीं है। पर्यायरूप से कौन परिणमित हुआ? तो कहते हैं वस्तु स्वयं। आत्मा और उसके अनन्तगुण, प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, उस पर्याय में वे तद्रूप हैं। इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखने पर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—चारों दूसरे समय पलट गये हैं। द्रव्य और गुणों की अपेक्षा से सदृशता ही है, तथापि पहले समय के जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं वे पहले समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न (परिणमित) हुए हैं, और दूसरे समय में वे द्रव्य-क्षेत्र-भाव तीनों पलटकर दूसरे समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही परिणमित होता है। दूसरे समय की पर्याय "ज्यों की त्यों" भले हो, किन्तु द्रव्य की पहले समय जो तद्रूपता थी वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय-पर्याय में सारे द्रव्य को साथ ही साथ लक्ष में रखा है। द्रव्य का यह स्वरूप समझे तो पर्याय-पर्याय में द्रव्य का अवलंबन वर्तता ही रहे इसलिये द्रव्य की दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायों की धारा बहती रहे....ऐसी अपूर्व यह बात है।

(१८९) मुक्ति का मार्ग

पर्यायरूप से उत्पन्न कौन हुआ? कहते हैं द्रव्य! इसलिये अपने को अपने ज्ञायकद्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है; दूसरा आकर इसका कुछ कर दे, अथवा यह किसी दूसरे का कुछ करने जाये यह बात कहाँ रहती है? भाई! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो.. अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर देख।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझी में विद्यमान है; अंतर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता कर तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है; इसके सिवा बाह्य में लाखों प्रयत्न करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१९०) "ज्ञायक" ही ज्ञेयों का ज्ञाता है

अपने क्रमवद्धपरिणामों में तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रम में दौड़ता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौड़ता-प्रवाह-उसमें तद्रूपता से द्रव्य उत्पन्न होता है। द्रव्य के प्रदेश सब एकसाथ (विस्तार सामान्यसमुदायरूप से) विद्यमान हैं, और पर्यायें एक के बाद एक क्रमवद्धप्रवाहरूप से वर्तती हैं। द्रव्य के क्रमवद्धपरिणमन की धारा को रोकने, तोड़ने या वदलने में कोई समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक, जगत के द्रव्य-गुण-पर्यायों को—जिस प्रकार वे सत् हैं उसी प्रकार-जानने-वाला हूँ;—इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने की यह बात है। जो ज्ञायक का निर्णय करे वही ज्ञेयों को यथार्थरूप से जानता है।

(१९१) यह है, ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व

द्रव्य-क्षेत्र और भाव, पहले समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं; वह पर्याय वदलकर दूसरी हुई, तव दूसरे समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं।—इस प्रकार वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों प्रति-समय पलटकर नई-नई अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसी पर्याय के साथ उन्हें कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरी के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। देखो, यह ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व !

(१) ज्ञायकभाव पर से तो भिन्न,

(२) रागादि के भावों से भी भिन्न,

(३) एक पर्याय, आगे-पीछे की दूसरी अनंत पर्यायों से भिन्न,

(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणों से भिन्न, और

(५) द्रव्य-गुण की पहले समय में जिस पर्याय के साथ तद्रूपता थी वह तद्रूपता दूसरे समय नहीं रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है।

—देखो यह सत्य के श्रद्धान होने की रीति! यह बात लक्ष में लेने से सम्पूर्ण ज्ञायक द्रव्य–दृष्टि के समक्ष आ जाता है।

(१९२) "जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायक का जीवन"—उसे जो नहीं जानता वह मूढ़ "मरे हुए को जीवित, और जीवित को मरा हुआ मानता है।"

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्दे को जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना–पिलाना चाहे, तो कहीं मुर्दा जीवित नहीं हो सकता और उसका दुःख दूर नहीं हो सकता; (यहाँ रामचन्द्रजी का उदाहरण नहीं देते, क्योंकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे) किन्तु मुर्दे को मुर्दारूप से जाने तो उसकी भ्रमणा का दुःख दूर हो। उसी प्रकार परवस्तु के साथ कर्ता–कर्मपने का अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्दे की भाँति), तथापि जो वैसा मानता है कि—पर का भी करता हूँ; वह अभाव को अभावरूप न मानकर, पर का अपने में सद्भाव मानता है; उस विपरीत मान्यता से वह दुःखी ही है।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवित को मरा हुआ माने तो वह मूढ़ है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभाव से जीवित है, ज्ञायकपना ही उसका जीवन है; उसके बदले जो उसे पर का कर्ता मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात करता है, इसलिये वह महान हिंसक है। और, परवस्तु भी जीवित (स्वयं परिणमित) है; उसके बदले मैं उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना उसने परवस्तु को जीवित नहीं माना, किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतंत्र परिणमित वस्तु का जो पर के साथ कर्ता–कर्मपना मानता है वह जीवंत वस्तुव्यवस्था को नहीं जानता। समयसार गा. ३५६ से ३६५ की टीका में भी कहा है कि—"जिसका जो हो वह वही होता है; जैसेकि—ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा

ही है"–ऐसा तात्त्विकसम्बन्ध जीवंत है।" देखो, यह जीवंत सम्बन्ध!! आत्मा का अपने ज्ञानादि के साथ एकता का सम्बन्ध जीवंत है, किन्तु पर के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्व किंचित् भी जीवंत नहीं है। यदि परद्रव्य आत्मा का कार्य हो अर्थात् आत्मा पर का कार्य करे, तो वह परद्रव्य आत्मा ही हो जाये; क्योंकि जो जिसका कार्य हो वह उससे पृथक् नहीं होता। किन्तु ज्ञायकआत्मा का पर के साथ ऐसा कोई सम्वन्ध नहीं है। तथापि जो पर के साथ कर्ताकर्म का सम्वन्व मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात कर देता है और मुर्दे को जीवित करना चाहता है, वह मूढ़–मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वयं परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायों में तद्रूपतापूर्वक वर्तते हैं—ऐसी जीवंत वस्तुव्यवस्था है; उसके बदले दूसरे के द्वारा उसमें कुछ फेरफार होना माने, तो उससे कहीं वस्तुव्यवस्था तो नहीं वदल जायेगी किन्तु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारों ओर से एक ही धारा की वात है; किन्तु जो पात्र होकर समझना चाहे उसीकी समझ में आती है। द्रव्य के क्रमबद्धप्रवाह को कोई दूसरा बीच में आकर वदल दे—ऐसा जीवन्त वस्तु में नहीं है, इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ, उसे ज्ञायकभाव की परिणमनधारा में बीच में राग का कर्तृत्व आ जाये—ऐसा ज्ञायक के जीवन में नहीं है; तथापि ज्ञायक को राग का कर्ता माने तो वह जीवंतवस्तु को नहीं जानता—ज्ञायक के जीवन को नहीं जानता।

ज्ञायकजीव को अपने निर्मलज्ञानपरिणाम का कर्तापना हो—ऐसा संवंध जीवित है, किन्तु ज्ञायकजीव को अजीव का कर्तृत्व हो—ऐसा संवंध जीवित नहीं है। ज्ञानी को ज्ञायकभाव के साथ का संवंध जीवित है और मोह के साथ का संबंध मर गया है;—ऐसा है ज्ञाता का जीवन!

(१९३) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव कर्ता और अजीव उसका कर्म—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कर्ता–कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता–कर्म में बीच में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है; वहाँ "यह हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। पर की अपेक्षा के बिना अकेले स्वद्रव्य में ही कर्ताकर्म की सिद्धि हो जाती है। यह निश्चय है,—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य में कुछ हुआ—ऐसा नहीं है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि उसने कार्य में कुछ भी कर दिया! "व्यवहार–कर्ता" का अर्थ ही "वास्तव में अकर्ता" है। कर्ता-कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिये निमित्त से भी निरपेक्ष हैं; अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहों कारक (कर्ता–कर्म–करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष हैं, और अपने स्वद्रव्य में ही उनकी सिद्धि होती है। कर्ता–कर्म–कारण–संप्रदान–अपादान और अधिकरण,—यह छहों कारक जीव के जीव में हैं और अजीव के अजीव में हैं।—ऐसा होने से जीव को अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, किन्तु जीव अकर्ता ही है—ज्ञायक ही है—ऐसा बराबर सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१९४) यह "क्रमबद्धपर्याय के पारायण का सप्ताह" आज पूरा होता है......

(१९५) यह समझ ले उसे क्या करना चाहिये ?—सारे उपदेश का निचोड़ !

प्रश्नः—लेकिन यह बात समझने के बाद क्या ?

उत्तर :— भीतर ज्ञायक में स्थिर होना इसके सिवा और क्या करना है ? क्या तुझे बाह्य में उछल-कूद करना है ? या पर का कुछ कर देना है ? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वयं ज्ञायकसन्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा, और राग के कर्तारूप नहीं हुआ—यही इस समझ का फल है। "मैं ज्ञायक हूँ" ऐसा समझा, वहाँ ज्ञायक क्या करेगा ? ज्ञायक तो ज्ञाता दृष्टापने का ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है वह ज्ञायक-स्वभाव को समझा ही नहीं है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई ! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है,— और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार की इन चार गाथाओं में आचार्य देव ने सारा निचोड़ भर दिया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा ! उसकी प्रतीति कर, और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

(१९६) ज्ञायकभगवान जागृत हुआ....वह क्या करता है ?

इस ज्ञायक की प्रतीति की वहाँ उस ज्ञायकभूमि में ही पर्याय उछलती है,—ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नहीं होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ पर्याय उछलती है—अर्थात् निर्मल-निर्मल-रूप से बढ़ती ही जाती है। अथवा—द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय में कूदता है,—उस पर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है, किन्तु कहीं बाह्य में नहीं कूदता। पहले ज्ञायक के भान बिना मिथ्यात्व-दशा में सोता था, उसके बदले अब स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायक-

भगवान जागृत हुआ वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय में उछलने लगा; अब बढ़ती हुई निर्मलपर्याय में कूदते-कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

(१९७) "क्रमबद्ध" के ज्ञाता को मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय तो अज्ञानी को भी है न?

उत्तरः—भाई, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप जो समझे उसे अपने में अज्ञान रहता ही नहीं। वह ऐसा जानता है कि ज्ञानी को, अज्ञानी को या जड़ को,—सभी को क्रमबद्धपर्याय है; किन्तु उसमें:—

—ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है,

—अज्ञानी को विपरीतदृष्टि में मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड़ की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अपनेमें तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्याय का क्रम रहता ही नहीं है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रम प्रारंभ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का रहस्य नहीं समझा है—मात्र बातें करता है।

(१९८) "चैतन्यचमत्कारी हीरा"

यहाँ आचार्यभगवान ने जीव को उसका ज्ञायकपना समझाया है —भाई! तेरा आत्मा ज्ञायक है...."चैतन्यचमत्कारी हीरा" है; तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता-दृष्टापने की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होकर जाने—ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्हीं पर पदार्थों की अवस्था को बदलने का स्वभाव नहीं है; इसलिये पर की कर्ताबुद्धि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१६६) चैतन्यराजा को ज्ञायकभाव की राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्व का तिलक होता है वहाँ विरोध करके पर को बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे हैं !

अहो, ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव को राजगद्दी पर बिठाते हैं....आत्मा में सम्यक्त्व का तिलक करते हैं...किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ़ जीव ऐसी सत्य बात का विरोध करते हैं, उन्हें ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान करके अभी संसार में भटकना है। राजा नवघण को एकबार एक सुन्दर चारण युवती तिलक करने आई। उस समय उस सुन्दरी का रूप देखकर राजा की दृष्टि बिगड़ी; इसलिये जब वह युवती तिलक करने लगी कि राजा ने अपना मुँह दूसरी दिशा में फेर लिया। युवती दूसरी दिशा में गई तो राजा ने तीसरी दिशा में मुँह कर लिया। अन्त में उस युवती ने अपनी सासू से कहा कि—सासूजी, "राय फिरते हैं।" उसकी सास राजा का हृदय समझ गई, इसलिये उसने उत्तर दिया कि—"बेटा ! राय नहीं फिरते...राय के दिन फिरते हैं।"

उसी प्रकार यहाँ श्री गुरु जीव को उसके ज्ञायकस्वभाव के सिंहासन पर बिठाकर, तीनलोक के ज्ञानसाम्राज्य का राजतिलक करते हैं..."अरे जीव ! अन्तर में ज्ञायकभगवान की प्रतीति करके राजस्थान में बैठने का (उत्कृष्ट स्वभाव में एकाग्र होने का) अवसर आया है, सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करने का सुअवसर आया है...अरे चैतन्य-राजा ! बैठ अपने ज्ञायकस्वभाव की गद्दी पर...यह तुझे राजतिलक होता है।"

वहाँ जिन्हें विकार की रुचि है—ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ़ जीव (राय नवघण की भाँति मुँह फेरकर) कहते हैं कि—अरे ! ऐसा नहीं....ऐसा नहीं...हम तो पर को बदल देंगे..." यानी उन्हें

ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु विकारीदृष्टि रखकर पर को बदलना है। किन्तु अरे मूढ़ जीवो ! तुम किसीकी पर्याय नहीं बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नहीं होते और पर की ओर मुँह फेरते हो इसलिये तुम्हारे दिन फिरे हैं—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र-रूपी तिलक करने का अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होने के बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते हैं और "एकान्त है, रे ! एकान्त है..." ऐसा कहकर विरोध करते हैं। अरे ! उनके दिन फिरे हैं; ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल स्वकाल होना चाहिये उसके बदले वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं इसलिये उनके दिन फिरे हैं।

(२००) "केवली के नन्दन" बतलाते हैं—केवलज्ञान का पंथ

भगवान ! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है; वह ज्ञायक रागादि भावों का अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हुआ उसका कर्ता–भोक्ता आत्मा है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता–भोक्तापना उसमें नहीं है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके ज्ञाताद्दष्टारूप रहना और उसमें स्थिर होना—यही करना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ वहाँ जीव रागादि का अकर्ता ही है और कर्म का भी अकर्ता है वह कर्मबंधन का निमित्त-कर्ता भी नहीं है इसलिये उसे बंधन होता ही नहीं;—अब ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख रहकर ज्ञाता–दृष्टापने के निर्मल–निर्मल परिणामोंरूप परिणमित होने से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा।—यही केवलज्ञान का पंथ है।

★

....जय हो....

ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ले जाकर 'सर्वज्ञशक्ति'
की... और 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति करानेवाले
केवलीप्रभु के लघुनन्दन श्री कहानगुरुदेव की

... जय हो....

ज्ञायकमूर्ति की जय हो....

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

—और—

अनेकप्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

भाग दूसरा

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के **प्रवचन**]

आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्पर्श करके बाहर निकलनेवाली, भेदज्ञान की झनझनाहट करती हुई और मुमुक्षुओं के हृदय को हिलाती हुई पूज्य गुरुदेव की पावनकारी वाणी में, "ज्ञायकसन्मुख ले जानेवाले क्रमबद्धपर्याय के प्रवचनों" की जो अद्भुत अमृतधारा एक सप्ताह तक प्रवाहित हुई थी वह प्रथम भाग में प्रकाशित कर चुके हैं। तत्पश्चात् मुमुक्षुओं के विशेष सद्भाग्य से दूसरी बार आश्विन शुक्ला सप्तमी से एकादशी तक ऐसी ही अमृतधारा पाँच दिन तक पुनः प्रवाहित हुई। नित्य नवीनता को धारण करती हुई वह अमृतधारा यहाँ दी जाती है।

"मैं ज्ञाता हूँ—इस प्रकार ज्ञानसन्मुख होकर परिणमन न करके, रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभाव-भावसन्मुख परिणमन में शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि—इस ओर मैं ज्ञायक हूँ, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात एकदम जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता।"

(१) अलौकिक अधिकार की पुनः वचनिका

यह अलौकिक अचित्य अधिकार है, इसलिये पुनः वचनिका होती है। यह मोक्षअधिकार की चूलिका है। समयसार में नवतत्त्वों का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव ने यह "सर्वविशुद्धज्ञान" का वर्णन किया है। "सर्वविशुद्धज्ञान" अर्थात् आत्मा का ज्ञायकस्वभाव; उस स्वभाव में ढलकर अभेद हुआ ज्ञान रागादि का भी अकर्ता ही है।

यहाँ सिद्ध करना है जीव का अकर्तृत्व! किन्तु उसमें क्रमबद्ध-पर्याय की बात करके आचार्यदेव ने अलौकिक रीत से अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(२) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है

"प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।" एकसाथ ज्ञान, आनंद, श्रद्धादि अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव द्रव्य उत्पन्न होता है। "जीव" किसे कहा जाये उसका वर्णन पहले (गाथा २, आदि में) करते आये हैं। वहाँ कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अपनी निर्मल पर्याय में स्थित होकर जो उत्पन्न होता है वही वास्तव में जीव है; जो रागादि भावों में स्थित है वह वास्तव में जीव नहीं है। जीव ज्ञायकस्वभाव है, वह ज्ञायकस्वभाव वास्तव में रागरूप से उत्पन्न नहीं होता—इसलिये ज्ञायकसन्मुख हुआ जीव राग का कर्ता नहीं होता; ज्ञायक

की दृष्टि में उसे राग की अधिकता नहीं होती, इसलिये वह रागादि का अकर्ता ही है। ऐसा ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर यहाँ उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

(३) ज्ञायकस्वभावी जीव राग का भी अकर्ता है

आत्मा ज्ञायक है; अनादि से उसके ज्ञायकभाव का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है; ज्ञान तो स्व-पर को जानने का ही काम करता है; किन्तु ऐसे ज्ञायकभाव की प्रतीति न करके अज्ञानी जीव राग के कर्तारूप से परिणमित होता है अर्थात् मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न होता है। यहाँ आचार्यदेव उस अज्ञानी को उसका ज्ञायकस्वभाव समझाते हैं—आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावी है, उसका ज्ञायकभाव उत्पन्न होकर राग को उत्पन्न करे या मिथ्यात्वादि कर्मों के बन्ध में निमित्त हो—ऐसा नहीं है; और उन कर्मों को निमित्त बनाकर उनके आश्रय से स्वयं विकाररूप उत्पन्न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु ज्ञायक के अवलंबन से क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं निमितरूप होकर दूसरे को न उत्पन्न करता हुआ, तथा दूसरे के निमित्त से स्वयं न उत्पन्न होता हुआ ऐसा ज्ञायकस्वभाव वह जीव है। स्वसन्मुख रहकर स्वयं स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ राग को भी ज्ञेय बनाता है। अज्ञानी राग को ज्ञेय न बनाकर, उस राग के साथ ही ज्ञान की एकता मानकर मिथ्यादृष्टि होता है, और ज्ञानी तो ज्ञानस्वभाव में ही ज्ञान की एकता रखकर राग को पृथक्‌रूप से ज्ञेय बनाता है, इसलिये ज्ञानी तो ज्ञायक ही है, वह राग का भी कर्ता नहीं है।

(४) ज्ञानी की बात, अज्ञानी को समझाते हैं

—यह बात किसे समझाते हैं?

यह बात है ज्ञानी की, किन्तु समझाते हैं अज्ञानी को। अन्तर

में जिसे ज्ञानस्वभाव और राग की भिन्नता का भान नहीं है ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि—तू ज्ञायक है; ज्ञायकभाव स्व-पर का प्रकाशक है किन्तु रागादि का उत्पादक नहीं है। भाई! ज्ञायकभाव कर्ता होकर ज्ञान को उत्पन्न करेगा या राग को? ज्ञायकभाव तो ज्ञान को ही उत्पन्न करता है। इसलिये, ज्ञायकभाव राग का कर्ता नहीं है—ऐसा तू समझ और ज्ञायकसन्मुख हो।

(५) किस दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है?

यहाँ क्रमबद्धपर्याय बतलाकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देना है; क्रमबद्ध के वर्णन में ज्ञायक की ही मुख्यता है, रागादि की मुख्यता नहीं है। जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, उसमें ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्त गुणों का परिणमन साथ ही है। उस परिणाम-रूप से कौन उत्पन्न होता है?—जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा?—ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा, ज्ञान, आनंदादि गुणों के निर्मल अंशरूप ही) उत्पन्न होता है; रागरूप उत्पन्न नहीं होता। श्रद्धा, ज्ञान, आनंदादि की क्रमबद्धपर्यायरूप से "राग" उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञायकस्वभावी "जीव" उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञायक-स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसीको क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय है, और उसकी क्रमबद्धपर्यायें निर्मल होती जाती हैं।

(६) "स्वसमय" अर्थात् रागादि का अकर्ता

समयसार की पहली गाथा " वंदित्तु सव्व सिद्धे..." में सर्व सिद्ध-भगवन्तों को नमस्कार करके, दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि :—

"जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥"

—अर्थात् स्वसन्मुख होकर अपने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप

निर्मल पर्याय में जो आत्मा स्थित है उसे स्वसमय जान। वह तो जीव का स्वरूप है, किन्तु निमित्त में और राग में एकत्वबुद्धि करके उसीमें जो स्थित है वह परसमय है; वह वास्तव में जीव का स्वरूप नहीं है। वहाँ जिसे "स्वसमय" कहा उसीको यहाँ "अकर्ता" कहकर वर्णन किया है। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर अपने सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और वीतरागभाव की पर्यायरूप से जो उत्पन्न हुआ वह "स्वसमय" है और वह रागादि का "अकर्ता" है।

(७) "निमित्त का प्रभाव" माननेवाले बाह्यदृष्टि में अटके हैं

आजकल तो इस मूलभूत अंतर की बात को भूलकर अनेक लोग निमित्त और व्यवहार के झगड़े में फँसे हैं। निमित्तों का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है—ऐसा मानकर जो निमित्ताधीन दृष्टि में ही अटक गये हैं उन्हें तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने का अवकाश नहीं है। निमित्त का प्रभाव पड़ता है,—यानी कुम्हार का घड़े पर, कर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है,—ऐसा जो मानते हैं उन्हें तो अभी मिथ्यात्वरूपी मदिरा का प्रभाव लेकर मिथ्यादृष्टि ही रहना है। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से मेरी पर्याय में ज्ञायकभाव का प्रभाव पड़ता है—ऐसा न मानकर, निमित्त का प्रभाव मानता है, तो हे भाई! निमित्तोन्मुखता को छोड़कर तू स्वभाव की ओर कब ढलेगा? निमित्त की ओर ही न देखकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो कर्म का निमित्तपना नहीं रहता। अज्ञानी को उसके अपने गुणों की विपरीतता में कर्म का निमित्त भले हो, किन्तु वह तो परज्ञेय में जाता है; यहाँ तो ज्ञानी की बात है कि—ज्ञानी स्वयं ज्ञायक की ओर ढला है, इसलिये वह ज्ञातारूप ही उत्पन्न हुआ है—रागरूप, आस्रव या बंधरूप वह उत्पन्न नहीं होता, इसलिये उसे कर्म का निमित्तपना भी नहीं है। इस प्रकार, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकोन्मुख जीव, क्रमबद्धपर्याय में रागरूप से उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है और यही क्रमबद्ध की यथार्थ प्रतीति का फल है।

(८) ज्ञाता के क्रम में ज्ञान की वृद्धि और राग की हानि

प्रश्न :—यदि पर्याय क्रमबद्ध है—हीनाधिक नहीं होती, तो फिर अल्प ज्ञान को बढ़ाया नहीं जा सकता और राग को कम नहीं किया जा सकता ?

उत्तर :—अरे भाई ! अभी तू यह बात नहीं समझा; तेरा झुकाव ज्ञायक की ओर नहीं हुआ। भाई, ज्ञान को बढ़ाने और राग को कम करने का उपाय कहीं बाह्य में है या अंतरंग ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन में ? "मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायक की पर्याय तो क्रमबद्ध स्व-परप्रकाशक ही होती है"—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक का अवलम्बन लिया है, वहाँ पर्याय-पर्याय में ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती ही जाती है और राग कम होता जाता है। मैं ज्ञान को बढ़ाऊँ और राग को कम करूँ—इस प्रकार पर्याय की ओर ही लक्ष रखे, किन्तु अंतर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन न ले तो उसे ज्ञान बढ़ाने और राग कम करने के सच्चे उपाय की खबर नहीं है। साधक को जो राग होता है वह तो स्व-परप्रकाशक ज्ञान के ज्ञेयरूप है, किन्तु ज्ञान के कार्यरूप नहीं है, इसलिये ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है, किन्तु वह राग का कर्ता या उसे बदलनेवाला नहीं है। राग के समय भी ज्ञानी तो उस राग के ज्ञानरूप ही उत्पन्न हुआ है। यदि राग को इधर-उधर बदलने की बुद्धि करे तो राग का कर्तृत्व हो जाता है इसलिये ज्ञातापने का क्रम न रहकर मिथ्यात्व हो जाता है। सामने जिस समय राग का काल है उसी समय ज्ञानी को अपने में तो ज्ञातापने का ही काल है, ज्ञायकोन्मुख होकर वह तो ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है—रागरूप उत्पन्न नहीं होता।

(९) अंतर्मुख ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धा आदि का परिणमन और वही धर्म

जीव को ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित होने पर वह

अपने आनन्दादि गुणों की निर्मलता को भी जानता है। ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धादि अन्य अनन्त गुण भी उसी समय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान उन्हें जानता है। ज्ञान में ऐसी ही स्व-परप्रकाशकपने की शक्ति विकसित हुई है, और उस समय अन्य नहीं किन्तु उन गुणों में ही ऐसा क्रम है। यहाँ ज्ञान में स्व-सन्मुख होने से निर्मल स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई और उसी समय श्रद्धा, आनन्दादि दूसरे गुणों में निर्मल परिणमन न हो—ऐसा कभी नहीं होता। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में द्रव्य के ज्ञान-आनन्दादि गुणों में एक साथ निर्मल परिणमन का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा के साथ सम्यक्चारित्र, आनन्दादि का अंश भी साथ ही है। देखो, इसका नाम धर्म है। अंतर में ऐसा परिणमन हो वह धर्म है, इसके सिवा बाहर के किसी स्थान में या शरीरादि की क्रिया में धर्म नहीं है; पाप के या पुण्य के भाव में धर्म नहीं है। अकेले शास्त्रों के शब्दों को जान लेने में भी धर्म नहीं है। अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेने से, श्रद्धा-ज्ञानादि गुणों का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाये उसका नाम धर्म है। इस प्रकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा के अवलम्बन में धर्म है। ज्ञायक का अवलम्बन लेकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न हुआ वही ज्ञानी का धर्म है।

(१०) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान, और वैसी ही वाणी

"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥" ३०९ ॥

अर्थात् सूत्र में जीव या अजीव के जो परिणाम दर्शाये हैं, उनके साथ उस जीव या अजीव को अनन्य-एकमेक जान। प्रत्येक द्रव्य की अपने परिणामों के साथ अभेदता है, किन्तु पर से भिन्नता है......

—ऐसा सर्वज्ञदेव और संतों ने जाना है;

—सर्वज्ञ के आगम में—सूत्र में भी ऐसा कहा है;
—और वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है;

इस प्रकार ज्ञान, शब्द और अर्थ—इन तीनों की संधि है। प्रतिसमय क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले अपने परिणामों के साथ द्रव्य तन्मय है—ऐसा वस्तु का स्वरूप है, ऐसा ही सर्वज्ञ और संतों का ज्ञान जानता है और ऐसा ही सूत्र बतलाता है। इससे विपरीत बतलायें, अर्थात् एक द्रव्य के परिणाम का कर्ता दूसरा द्रव्य है ऐसा बतलायें, तो वे देव गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं और वस्तु का स्वरूप भी ऐसा नहीं है।

(११) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मूल तात्पर्य

यहाँ क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराने का ही तात्पर्य है।

(१) "णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणग्रो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥"

—ऐसा कहकर वहाँ छठवीं गाथा में पर्याय के भेदों का अवलम्बन छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि कराई है।

(२) तत्पश्चात्—

"ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥"

—भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहकर वहाँ ग्यारहवीं गाथा में भी एकरूप ज्ञायकस्वभाव का ही अनुभव कराया है।

(३) और, संवर अधिकार में "उवओगे उवओगो....–उपयोग में उपयोग है"—ऐसा कहकर, संवर की जो निर्मल दशा प्रगट हुई उसके साथ आत्मा की अभेदता बतलाई, अर्थात् ज्ञायकस्वरूप में अभेदता से

ही संवर दशा प्रगट होती है—ऐसा बतलाया है।

इस प्रकार आचार्य भगवान पहले से ही ज्ञायकस्वभाव के अवलंबन की बात कहते आये हैं। यहाँ भी क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर, दूसरे ढंग से ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि कराई है। "दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं"—ऐसा कह कर, पर्याय-पर्याय में (-प्रत्येक समय की पर्याय में) अभेदरूप से तेरा ज्ञायकभाव ही परिणमित हो रहा है—ऐसा बतलाया है। (इस संबंधी विस्तार के लिये प्रथम भाग में प्रवचन आठवाँ देखें)

(१२) बारम्बार मननकर अन्तर में परिणमित करने जैसी मुख्य बात

देखो, ऐसा "ज्ञा...य....क....भा...व" जीव का सिर है;—वह मुख्य बात है इसलिये उसे सिर कहा है। यह बात मुख्य प्रयोजनभूत होने से बारंबार रटने जैसी है, अंतर में निर्णय करके परिणमित करने जैसी है।

(१३) जीवतत्त्व

सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। जीवतत्त्व का ज्ञायकस्वभाव है; उसके सन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न हुआ और उस परिणाम में अभेद हुआ वही वास्तव में जीव है; राग में अभेद होकर उत्पन्न हुआ वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है। ज्ञानी के परिणमन में राग की मुख्यता नहीं है, उनके तो एक ज्ञायक की ही मुख्यता है, राग के वे ज्ञाता हैं। ज्ञायकोन्मुख होकर उसे "निश्चयज्ञेय" बनाया वहाँ अस्थिरता का अल्पराग "व्यवहारज्ञेय" हो जाता है।

(१४) जीवन का सच्चा कर्तव्य

जीवन में यह मुख्य करने जैसा है,—इस समझ से ही जीवन की

सफलता है...अरे ! जीवन में ऐसी अपूर्व समझ बिना जीवन की घड़ियाँ व्यर्थ जाती हैं—ऐसी जिसे चिन्ता भी न हो—समझने की दरकार भी न हो, वह जीव समझने का प्रयत्न कहाँ से करेगा ? सच्ची समझ का मूल्य भासित होना चाहिए कि जीवन में सत्समागम से सच्ची समझ करना ही एक करनेयोग्य सच्चा कार्य है। इस समझ के बिना "जगत में बाह्य कार्य मैंने किये"—ऐसा मानकर जो व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है, वह तो साँड़ की भाँति घूरे तितर-बितर करता है (जैसे कूड़ेकचरे के ढ़ेर को साँड़ ऊँचा-नीचा करता है, वैसे व्यर्थ अहंकार में समय गँवाता है) उसमें आत्मा का किंचित् हित नहीं है।

(१५) प्रभु ! अपने ज्ञायकभाव को लक्ष में ले

भगवान ! तेरा आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्यपिण्ड विद्यमान है, उसे तो एक बार लक्ष में ले ! अनादि से बाहर देखा है, किन्तु भीतर मैं कौन हूँ—यह कभी नहीं देखा... सिद्धपरमात्मा जैसा अपना आत्मा है उसे कभी लक्ष में नहीं लिया। तेरा आत्मा ज्ञायक है। प्रभु ! ज्ञायक उत्पन्न होकर ज्ञायकभाव की रचना करेगा या राग की ? सुवर्ण उत्पन्न होकर सुवर्ण अवस्था की रचना करेगा, कहीं लोहे की दशा नहीं रचेगा। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है वह तो ज्ञायकभाव का ही रचयिता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ज्ञायकभाव की ही रचना (-उत्पत्ति) होती है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर राग की रचना करता है—रागादि का कर्ता बनता है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उस राग का कर्तृत्व छुड़ाते हैं।

(१६) निर्मल पर्याय को ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता से ज्ञायकभावरूप ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है; अपने ज्ञायकपरिणाम के साथ अभेद होकर

उत्पन्न होता हुआ वह जीव ही है, अजीव नहीं है। वह किसी अन्य के अवलंबन द्वारा, निमित्त के कारण, राग के कारण या पूर्व पर्याय के कारण उत्पन्न नहीं होता, तथा भविष्य की पर्याय में केवलज्ञान होना है उसके कारण इस समय सम्यग्दर्शनादि पर्याय होती है—ऐसा भी नहीं है; वर्तमान में जीव स्वयं ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक-भावरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) उत्पन्न हुआ है, स्वोन्मुख हुई वर्तमान पर्याय का क्रम ही ऐसा निर्मल है। इस प्रकार अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव को पकड़ा वहाँ निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई; वर्तमान स्वभाव का अवलम्बन ही उसका कारण है, इसके सिवा पूर्व–पश्चात् का कोई कारण नहीं है तथा निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन नहीं है।

(१७) "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" यह कब लागू होता है ?

प्रश्नः—ऐसा सूक्ष्म समझने में बड़ी मेहनत होती है, इसकी अपेक्षा "पुरुष की प्रमाणता से वचन प्रमाण"—ऐसी धारणा करके यह बात मान लें तो ?

उत्तरः—भाई, यह तो अकेला पर-प्रकाशक हुआ, स्व–प्रकाशक के बिना पर–प्रकाशकपना कहाँ से सच्चा होगा ? पुरुष प्रमाण है या नहीं, उसका निर्णय ज्ञान के बिना कौन करेगा ? ज्ञान का निर्णय करके सम्यग्ज्ञान हुए बिना पुरुष की प्रमाणता की परीक्षा कौन करेगा ? आप्तमीमांसा (—देवागमस्तोत्र) में स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—हे नाथ ! हम तो परीक्षा द्वारा आपकी सर्वज्ञता का निर्णय करके आपको मानते हैं। प्रयोजनरूप मूलभूत तत्त्वों की तो परीक्षा करके अपने ज्ञान में निर्णय करे, और फिर दूसरे अप्रयोजन-रूप तत्त्वों में न पहुँच सके तो उसे "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" करके मान लेना ठीक है; किन्तु एकान्त "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" कहकर रुक जाये और अपने ज्ञान में मूलभूत तत्त्वों के निर्णय का

भी उद्यम न करे तो उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। पुरुष की प्रमाणता का (सर्वज्ञ का) निर्णय करने जाये तो उसमें भी ज्ञानस्वभाव का ही निर्णय करना आता है। पुरुष की प्रमाणता तो उसमें है, किन्तु वह किस प्रकार है—यह तेरे ज्ञान में तो भासित नहीं हुआ है; पुरुष की प्रमाणता का निर्णय तेरे ज्ञान में तो आया नहीं है, इसलिये "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण"—यह बात तेरे लिये लागू नहीं होती।

(१८) क्रमबद्ध की या केवली की बात कौन कह सकता है?

इसी प्रकार अकेले पर की या राग की ओट लेकर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि "विकार क्रमबद्धपर्याय में होना था इसलिये हुआ, अथवा केवलीभगवान ने वैसा देखा था इसलिये हुआ"—तो वह स्वच्छंदी है; भाई रे! अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना तू क्रमबद्धपर्याय की या केवली की बात कहाँ से लाया? तू अकेले राग की ओट लेकर बात करता है किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं करता, तो तूने वास्तव में केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को माना ही नहीं है। केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को यथार्थरूप से पहिचाननेवाले जीव की दृष्टि तो अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढली होती है; उसके तो ज्ञान की ही अधिकता होती है, राग की अधिकता उसके होती ही नहीं। ज्ञान-स्वभाव की ओर ढले विना धर्म में एक पग भी नहीं चल सकता।

(१९) ज्ञान के निर्णय विना सब मिथ्या है। ज्ञायकभावरूपी तलवार से सम्यक्त्वी ने संसार को छेद डाला है

प्रश्नः—तो क्या अभीतक किया हुआ हमारा सब झूठा है?

उत्तरः—हाँ, भाई! सब मिथ्या है। अंतर में "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा लक्ष और प्रतीति न करे तबतक शास्त्रों की पढ़ाई या त्यागादि सब झूठे हैं, उनसे संसार का नाश नहीं होता। आत्मा का ज्ञान-

स्वभाव सर्वज्ञता और पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय—इन सब का निर्णय करके जहाँ ज्ञायक की ओर ढला, वहाँ ज्ञायकभावरूपी ऐसी तलवार हाथ में ली है जो एक क्षण में संसार की ज़ड़ को छेद डाले !

(२०) सम्यग्दृष्टि मुक्त; मिथ्यादृष्टि को ही संसार

अब अगली गाथाओं में कहेंगे कि—ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में सम्यक्त्वी को संसार ही नहीं है; जिसकी दृष्टि कर्म पर है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही संसार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से अपने शुद्धस्वभाव में निश्चल होने से वास्तव में मुक्त ही है;—"शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव।" (देखो, कलश १९८)

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले ज्ञानी का अकर्तृत्व सिद्ध करके, अब (३१२-३१३) दो गाथाओं में आचार्यदेव कहेंगे कि जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही निमित्त-नैमित्तिकभाव से संसार है।

कर्म के निमित्त का जीव पर प्रभाव पड़ता है, अथवा जैसा निमित्त आये वैसा कार्य होता है, कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसी अज्ञानी की मान्यता तो दूर रही, किन्तु जीव स्वयं मिथ्यात्वादि करे तब कर्म को निमित्त कहा जाता है, और जीव निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों का बंध करता है—यह बात भी मिथ्यादृष्टि को लागू होती है। कर्म का निमित्तकर्ता मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी तो अकर्ता ही है; ज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकपना नहीं है, उसे ज्ञायक के साथ संधि हुई है और कर्म के साथ की संधि टूट गई है।

(२१) सम्यग्दर्शन के विषयरूप जीवतत्त्व कैसा है ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से क्रमबद्ध ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है, किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता। "राग का कर्ता जीव" सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, किन्तु "ज्ञायक-

भावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव" सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है।

(१) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

(२) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। और

(३) जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।"

—ऐसा मोक्षशास्त्र में उमास्वामी महाराज ने कहा है; वहाँ ऐसे ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्य को पहिचाने तो जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति के बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता।

(२२) निमित्त अकिंचित्कर है, तथापि सत् में सत् निमित्त ही होता है

अभी तो सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। ऐसे जीव को पहिचाने तो सच्ची श्रद्धा होती है और पश्चात् ही श्रावकत्व या मुनित्व होता है। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है; उसमें दूसरा कुछ नहीं हो सकता। स्वयं अन्तर में पात्र होकर समझे तो पकड़ में आ सकता है; दूसरा कोई दे जाये या समझा दे—ऐसा नहीं है। यदि कोई दूसरा दे दे, तो कोई तीसरा आकर लूट भी ले! किन्तु ऐसा नहीं होता। ऐसा होने पर भी—अर्थात् निमित्त अकिंचित्कर है फिर भी, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवाले को निमित्त कैसा होता है वह जानना चाहिये। आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीव को सामने निमित्तरूप से भी ज्ञानी ही होते हैं। वहाँ, सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामनेवाले ज्ञानी का आत्मा "अन्तरंग निमित्त" है और उन ज्ञानी की वाणी बाह्यनिमित्त है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञानी ही निमित्त होते हैं, अज्ञानी निमित्त नहीं होते; और अकेली जड़ वाणी भी निमित्त नहीं होती।—यह बात नियमसार की ५३वीं गाथा के व्याख्यान में अत्यंत स्पष्टरूप से कही जा चुकी है। (देखो, आत्मधर्म हिंदी वर्ष ७वां, अंक—९वां)

सत् समझने में कैसा निमित्त होता है वह न पहिचाने तो अज्ञानी–मूढ़ है; और निमित्त कुछ कर दे ऐसा माने तो वह भी मूढ़–मिथ्यादृष्टि है।

(२३) आत्महित के लिये भेदज्ञान की सीधीं–सादी बात

देखो, यह तो सीधी–सादी बात है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे? तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा समझाना है कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, वह क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकभाव की ही रचना करता है; रागरूप से उत्पन्न हो या राग की रचना करे—ऐसा जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप नहीं है, वह तो आस्रव और बंधतत्त्व में जाता है। अन्तर में राग और जीव का भी भेदज्ञान करने की यह बात है। निमित्त कुछ करता है—ऐसा माननेवाले को तो अभी बाहर का भेदज्ञान भी नहीं है—पर से भिन्नता का ज्ञान भी नहीं है; तब फिर "ज्ञायकभाव राग का कर्ता नहीं है"—ऐसा अन्तर का (ज्ञान और राग के बीच का) भेदज्ञान तो उसे कहाँ से होगा? किन्तु जिसे धर्म करना हो—आत्मा का कुछ भी हित करना हो उसे दूसरा सब एक ओर रखकर यह समझना पड़ेगा। भाई! तेरे चैतन्य का प्रकाशक स्वभाव है; वह नई–नई क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ, ज्ञायकस्वभाव के भानपूर्वक रागादि को या निमित्तों को भी ज्ञातारूप से जानता ही है; ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता।

जीव राग के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होता, तो क्या वह कूटस्थ है?—नहीं; वह अपने ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये कूटस्थ नहीं है। यहाँ तो कहा है कि "जीव उत्पन्न होता है"—अर्थात् द्रव्य स्वयं परिणमित होता हुआ अपनी पर्याय को द्रवित करता

है, द्रव्य स्वयं अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है; वह कूटस्थ नहीं है, तथा दूसरा उसका परिणमन करानेवाला नहीं है।

(२४) हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु! अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले!

सर्वज्ञदेव, कुंदकुंदाचार्य—अमृतचन्द्राचार्य आदि संत और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि ज्ञायकस्वरूपी जीव रागादि का अकर्ता है। अरे भाई! तू ऐसे जीवतत्त्व को मानता है या नहीं?—या फिर निमित्त को और राग को ही मानता है? निमित्त को और राग को पृथक् रखकर ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले, निमित्त को उत्पन्न करनेवाला या रागरूप उत्पन्न होनेवाला मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ इसलिये मैं ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव कर, तो तुझे सात तत्त्वों में से जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति हुई कहलाये; और तभी तूने देव-गुरु-शास्त्र को वास्तव में माना कहा जाये।

हे ज्ञायक चिदानंदप्रभु! स्व-सन्मुख होकर प्रतिसमय ज्ञाताभाव-रूप से उत्पन्न होना वह तेरा स्वरूप है; ऐसे अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले।

(२५) अरे! एकान्त की बात एक ओर रखकर यह समझ!

यह बात सुनते ही, "अरे! एकान्त हो जाता है....रे...एकान्त हो जाता है!"—ऐसा कई अज्ञानी पुकारते हैं। किन्तु अरे तेरी वह बात एक ओर रखकर यह समझ! यह समझने से, राग और ज्ञान एकमेक है ऐसा तेरा अनादिकालीन मिथ्याएकान्त दूर हो जायेगा और ज्ञायक के साथ ज्ञान की एकतारूप सम्यक्एकान्त होगा; उस ज्ञान के साथ सम्यक्श्रद्धा, आनंद, पुरुषार्थ आदि अनंत गुणों का परिणमन भी साथ ही है, इसलिये अनेकान्त है।

(२६) सम्यक्त्वी के राग है या नहीं?

अंतर्स्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए

उसके साथ चारित्र का अंश भी विकसित हुआ है—स्वरूपाचरण-चारित्र प्रगट हो गया है। किसी को ऐसी शंका हो कि "सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ पूर्ण चारित्र क्यों न हुआ?"—तो उसे ज्ञान, चारित्र आदि के भिन्न-भिन्न क्रमबद्धपरिणमन की खबर नहीं है। क्रमबद्धपरिणमन में कहीं ऐसा नियम नहीं है कि सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान होने पर उसी क्षण पूर्ण चारित्र भी प्रगट हो ही जाये। अरे, क्षायिक-सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् लाखों-करोड़ों वर्षों तक श्रावकत्व या मुनित्व (पाँचवाँ या छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान) नहीं आता, और किसीको सम्यग्दर्शन होने पर अन्तमुहूर्त में ही मुनिदशा—क्षपक-श्रेणी और केवलज्ञान हो जाता है। तथापि, सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थान में भी राग के ज्ञाता ही हैं; यहाँ अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का वैसा ही सामर्थ्य है;—इस प्रकार ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बल से ज्ञानी उस-उस समय के राग को भी ज्ञेय बना देते हैं। ज्ञायक-स्वभाव की अधिकता उनकी दृष्टि में से एक क्षण भी नहीं हटती; ज्ञायक की दृष्टि में वे ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते हैं; राग में तन्मयरूप से उत्पन्न नहीं होते।—इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय में ज्ञानी को राग की प्रधानता नहीं है—ज्ञातृत्व की ही प्रधानता है। राग के समय, "मैं इस रागरूप उत्पन्न होता हूँ"—ऐसी जिसकी दृष्टि है और ज्ञायक की दृष्टि नहीं है वह वास्तव में क्रमबद्ध-पर्याय का वास्तविक स्वरूप समझा ही नहीं है।

(२७) क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कब होता है?

"क्रमबद्धपर्याय में मुझे मिथ्यात्व आना होगा तो?"—ऐसी शंका करनेवाले का सच्चा निर्णय हुआ ही नहीं है। सुन रे सुन मूढ़! तूने क्रमबद्धपर्याय किसके सन्मुख देखकर मानी? अपने ज्ञायकद्रव्य की ओर देखकर मानी है या पर की ओर देखकर? जिसने ज्ञायक-द्रव्यसन्मुख होकर क्रमबद्ध की प्रतीति की, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नहीं। और यदि अकेले पर की ओर देखकर तू क्रमबद्ध की बात

करता हो तो तेरा क्रमवद्ध का निर्णय ही मिथ्या है। तेरी क्रमबद्ध-पर्यायरूप से कौन उत्पन्न होता है?—जीव; जीव कैसा?—ज्ञायक-स्वभावी; तो ऐसे जीवतत्त्व को तूने लक्ष में लिया है? यदि ऐसे ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्व को जानकर क्रमबद्धपर्याय माने तब तो ज्ञाता-पने की ही क्रमबद्धपर्याय हो, और मिथ्यात्व होता ही नहीं; मिथ्यात्व-रूप से उत्पन्न हो ऐसा ज्ञायक का स्वभाव नहीं है।

(२८) ज्ञानी राग के अकर्ता हैं; "जिसकी मुख्यता उसीका कर्ता"

प्रश्न :— ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने के पश्चात् भी ज्ञानी को राग तो होता है?

उत्तर :— वह राग ज्ञाता का कार्य नहीं है, किन्तु ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञायकस्वभाव परमार्थज्ञेय है और राग व्यवहारज्ञेय है। ज्ञाता के परिणमन में तो ज्ञान की ही मुख्यता है, राग की मुख्यता नहीं है। और जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता-भोक्ता है। पुनश्च, "व्यवहार है इसलिये परमार्थ है"—ऐसा भी नहीं है, राग है इस-लिये उसका ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञायक के अवलम्बन से ही ऐसे स्व-परप्रकाशकज्ञान का परिणमन हुआ है; राग कहीं ज्ञायक के अवलम्बन में से नहीं हुआ है, इसलिये ज्ञानी उसका अकर्ता है।

(२९) क्रमवद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब....?

प्रश्न :— आप कहते हैं ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीव को तथा क्रमबद्ध-पर्याय को हम मानें, और साथ ही साथ कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को भी मानें, तो क्या हर्ज?

उत्तर :— अरे! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के पास इस वात की गंध भी नहीं है, तो उनके पास जो नहीं है वह वात तुझमें कहाँ से आई? किसीके पास से धारणा करके—चोरी करके—इस वात के नाम से तुझे अपने मान की पुष्टि करना है, यह वड़ा स्वच्छन्द है।

जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो उस जीव को कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र का सेवन होता ही नहीं। किसीके शब्द लेकर रट ले, तो ऐसा नहीं चल सकता। सर्व प्रकार की पात्रता हो तो यह बात समझ में आ सकती है।

(३०) भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है; अजीव नहीं है। ज्ञायकभाव के सिवा राग भी वास्तव में जीव नहीं है; ज्ञानी उस रागरूप से उत्पन्न नहीं होता। कर्म जीव नहीं है, शरीर जीव नहीं है; इसलिये ज्ञायकरूप से उत्पन्न होने वाला जीव कर्म, शरीरादि का निमित्तकर्ता भी नहीं है; ज्ञायक तो ज्ञायक ही है; ज्ञायकभावरूप ही वह उत्पन्न होता है।—ऐसा जीव का स्वरूप है।

* भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ? उन्हें पहिचान।
* तू जीव ! ज्ञायक ! और ज्ञायक के आश्रय से दर्शन–ज्ञान–चारित्र की जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई वे तेरे परिणाम !

—ऐसे निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होने का तेरा स्वभाव है; किन्तु विकार का कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर निमित्त से स्वयं उत्पन्न हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। एक बार अपनी पर्याय को अन्तरोन्मुख कर, तो ज्ञायक के आश्रय से तेरी क्रमबद्ध-पर्याय में निर्मल परिणमन हो।

(३१) ज्ञानी की दशा

ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ है—ऐसे ज्ञानी को प्रमाद भी नहीं होता और आकुलता भी नहीं होती; क्योंकि (१) ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता किसी भी समय दूर नहीं होती इसलिये प्रमाद नहीं होता; दृष्टि के वल से स्वभाव के अव-

लम्बन का प्रयत्न चालू ही है; और (२) क्रम बदलने की बुद्धि नहीं है इसलिये उतावली भी नहीं है—पर्यायबुद्धि की आकुलता नहीं है, किन्तु धैर्य है। ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन करके परिणमित होते हैं, उसमें प्रमाद भी कैसा और आकुलता भी कैसी ?

(३२) "अकिंचित्कर हो तो, निमित्त की उपयोगिता क्या ?" अज्ञानी का प्रश्न

जिसे ज्ञायक की दृष्टि नहीं है और क्रम बदलने की बुद्धि है वह भी मिथ्यादृष्टि है; तो फिर निमित्त आकर पर्याय बदल दे—यह मान्यता तो कहाँ रही ?

प्रश्न :— यदि निमित्त कुछ न करता हो, तो उसकी उपयोगिता क्या है ?

उत्तर :— भाई ! आत्मा में पर की उपयोगिता है ही कहाँ ? उपयोगिता तो उपयोगस्वरूप आत्मा की ही है। निमित्त की उपयोगिता निमित्त में है, किन्तु आत्मा में उसकी उपयोगिता नहीं है। "आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नहीं है"—ऐसा मानने से कहीं जगत में से निमित्त के अस्तित्व का लोप नहीं हो जाता; वह ज्ञान का ज्ञेय है। जगत में ज्ञेयरूप से तो तीन काल तीन लोक हैं, उससे कहीं आत्मा में उनकी उपयोगिता हो गई ? अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"निमित्त की उपयोगिता मानो, अर्थात् निमित्त कुछ कर देता है ऐसा मानो तो तुमने निमित्त को माना ऐसा कहा जायेगा।" किन्तु भाई ! निमित्त को निमित्त में ही रख; आत्मा में निमित्त की उपयोगिता नहीं है—ऐसा मानने में ही निमित्त का निमित्तपना रहता है। किन्तु निमित्त उपयोगी होकर आत्मा में कुछ कर देता है—ऐसा मानने से निमित्त निमित्तरूप से नहीं रहता, किन्तु उपादान-निमित्त की एकता हो जाती है अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये निमित्त का अस्तित्व जैसा है वैसा ही जानना चाहिये। किन्तु, जिन्हें शुद्ध उपादानरूप

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और अकेले निमित्त को जानने जाते हैं उन्हें निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, क्योंकि स्व-परप्रकाशक सम्यक्ज्ञान ही उनके विकसित नहीं हुआ है।

प्रवचन : दूसरा

[आश्विन शुक्ला ८, वीर सं. २४८०]

(३३) "जीव" अजीव का कर्ता नहीं है;—क्यों नहीं है?

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में क्रमबद्धपर्याय का वर्णन करके आचार्यदेव ने आत्मा का अकर्तृत्व बतलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है और उसीमें तन्मय है, किन्तु दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप से कोई उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का, दूसरे द्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं है। तदुपरान्त, ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाला जीव राग का या कर्म का कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं है—यह बात यहाँ बतलाई है।

जीव अजीव का कर्ता नहीं है;—क्यों नहीं है?—कहते हैं कि अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है, और जीव अपने ज्ञायकस्वभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायक ही है; इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है तथा अजीवकर्मों का निमित्तकर्ता भी नहीं है।

यहाँ जीव को समझाना है कि हे जीव! तू ज्ञायक है; तेरी क्रमबद्धपर्याय ज्ञाता-दृष्टारूप ही होना चाहिए; उसके बदले तू राग के कर्तारूप परिणमित होता है वह तेरा अज्ञान है।

(३४) कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिकसंबंध तोड़ दिया उसने संसार तोड़ दिया

जीव दूसरे को परिणमित करता है और दूसरा निमित्त होकर जीव को परिणमित करता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। और कोई भाषा बदलकर ऐसा कहते हैं कि—"दूसरा इस जीव को परिणमित तो नहीं करता, किन्तु जैसा निमित्त आये वैसे निमित्त का अनुसरण करके जीव स्वतः परिणमित हो जाता है; नहीं तो निमित्त–नैमित्तिक-सम्बन्ध उड़ जाता है!"—ऐसा माननेवाले भी अज्ञानी हैं; उन्हें अभी निमित्त का अनुसरण करना है और उसके साथ सम्बन्ध रखना है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण नहीं करना है।—ऐसे जीवों के लिये आचार्यदेव अगली गाथाओं में कहेंगे कि—अज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव के कारण ही संसार है। ज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में निमित्त का अनुसरण ही नहीं करते, ज्ञायक का ही अनुसरण करते हैं; ज्ञायकस्वभाव में एकता करके निमित्त के साथ का संबन्ध उन्होंने तोड़ डाला है, इसलिये दृष्टि अपेक्षा से उनके संसार है ही नहीं।

(३५) "ईश्वर जगत्कर्ता," और "आत्मा पर का कर्ता"—ऐसी मान्यतावाले दोनों समान हैं

निमित्त पाकर जीव की पर्याय होती है, अथवा तो जीव निमित्त होकर दूसरे जीव को बचा देता है—ऐसा कर्तृत्व माननेवाले भले ही जैन नाम धारण किए हों तथापि, ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले लौकिकजनों की भाँति, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।—यह बात भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव ने ३२१–२२–२३वीं गाथा में कही है।

(३६) ज्ञानी की दृष्टि और ज्ञान

अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय उत्पन्न होता

है, उसमें अन्य कर्ता की अपेक्षा नहीं है; दूसरे से निरपेक्षरूप से द्रव्य में कर्ता-कर्मपना है। द्रव्य अपनी पर्याय को करे, वहाँ भूमिकानुसार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का मेल सहज ही भले हो, किन्तु ज्ञानी की दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही है; निमित्तसन्मुख ज्ञानी की दृष्टि नहीं है। ज्ञानी के जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है उसमें निमित्त का भी ज्ञान आ जाता है।

(३७) द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप वस्तु स्वयं परिणमित होकर प्रतिसमय नई-नई क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होती है; वस्तु में प्रतिसमय आन्दोलन हो रहा है; पहले समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे समय सर्वथा ज्यों के त्यों नहीं रहते, किन्तु दूसरे समय में पलटकर दूसरी अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिये पर्याय के वदलने से द्रव्य भी परिणमित होकर उस-उस समय की पर्याय के साथ तन्मयरूप से वर्तता है।—इस प्रकार द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमवद्धपर्याय की बात है। पहली बार के आठ प्रवचनों में यह वात अच्छी तरह विस्तारपूर्वक आ गई है।

(—देखो प्रथम भाग प्रवचन ८वाँ पेरा नं. १८८)

(३८) परमार्थतः सभी जीव ज्ञायकस्वभावी हैं;—किन्तु ऐसा कौन जानता है?

सभी जीव अनादि-अनन्त स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावरूप ही हैं। जीव के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियादि जो भेद हैं वे तो पर्याय-अपेक्षा से तथा शरीरादि निमित्तों की अपेक्षा से हैं; किन्तु स्वभाव से तो सब जीव ज्ञायक ही हैं।—ऐसा कौन जानता है?—जिसने अपने में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की हो वह दूसरे जीवों को भी वैसे स्वभाववाला जानता है। व्यवहार से जीव के अनेक भेद हैं, किन्तु परमार्थ से सभी जीवों का ज्ञायकस्वभाव है,—ऐसा जो जान ले

उसको व्यवहार के भेदों का ज्ञान सच्चा होता है। अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको जीव का स्वरूप मान लेता है; इसलिये उसे पर्यायबुद्धि से अनन्तानुबन्धी राग–द्वेष होता है, धर्मी को ऐसा राग–द्वेष नहीं होता।

(३६) "क्रमबद्धपर्याय" और उसके चार दृष्टान्त

यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि जीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव स्वयं उत्पन्न होता है और अजीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से अजीव स्वयं उत्पन्न होता है, कोई किसीका कर्ता या बदलनेवाला नहीं है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्तीपना है। क्रमवर्ती कहो या क्रमबद्ध कहो, या नियमबद्ध कहो; प्रत्येक द्रव्य अपनी व्यवस्थित क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता है; आत्मा अपने ज्ञायकप्रवाह के क्रम में रहकर उसका ज्ञाता ही है।

(१) पर्याय क्रमवर्ती है, उस क्रमवर्तीपने का अर्थ "पादविक्षेप" करते हुए पंचाध्यायी की १६७वीं गाथा में कहते हैं कि—

"अस्त्यत्र यः प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेषः॥"

'क्रम' धातु है वह 'पादविक्षेप' ऐसे अर्थ में प्रसिद्ध है, और अपने अर्थ अनुसार 'क्रमति इति क्रमः'—ऐसा उसका रूप है।

'पादविक्षेप' अर्थात्—जब मनुष्य चलता है तब उसका दायाँ और बाँया पैर एक के बाद एक क्रमशः उठता है; दायें के बाद बायाँ और बायें के बाद दायाँ,—ऐसा जो चलने का पादक्रम है वह उलटा–सीधा नहीं होता; उसी प्रकार जीव–अजीव द्रव्यों का परिणमन भी क्रमबद्ध होता है; उनकी पर्यायों का क्रम उलटा–सीधा नहीं होता। इस प्रकार "क्रमबद्धपर्याय" के लिये एक दृष्टांत तो 'पाद-विक्षेप' का अर्थात् चलने के प्राकृतिक क्रम का है।

(२) दूसरा दृष्टांत नक्षत्रों का है, वह भी प्रकृति का है। प्रमेय-

कमलमार्तंड (३-१८) में 'क्रमभाव' के लिये नक्षत्रों का दृष्टांत दिया है। जिस प्रकार कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष...आदि सभी नक्षत्र क्रमबद्ध ही हैं; वर्तमान में 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो, उसके पहले 'कृतिका' नक्षत्र ही था, और अब "मृगशीर्ष" नक्षत्र ही आयेगा,—ऐसा निर्णय हो सकता है। यदि नक्षत्र निश्चित्—क्रमबद्ध ही न हों तो, पहले कौन-सा नक्षत्र था और अब कौन-सा नक्षत्र आयेगा उसका निर्णय हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में उसकी तीनोंकाल की पर्यायें निश्चित् क्रमबद्ध ही हैं; यदि द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायें निश्चित् न हों तो ज्ञान तीनकाल का किस प्रकार जानेगा? आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान में सर्वज्ञता की शक्ति है—ऐसा निर्णय करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। जो क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करता उसे ज्ञानस्वभाव का या सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय नहीं हुआ है।

(३) क्रमबद्धपर्याय के लिये तीसरा दृष्टान्त नक्षत्रों की भाँति 'सात वारों' का है। जिस प्रकार सात वारों में रवि के बाद सोम, और उसके बाद मंगल...बुध...गुरु....शुक्र....शनि—इस प्रकार क्रमानुसार ही आते हैं; रवि के बाद सीधा बुध और बुध के बाद शनि कभी नहीं आता। भिन्न-भिन्न देशों या भिन्न-भिन्न भाषाओं में सात वारों के नाम भले ही अलग-अलग बोले जाते हों, किन्तु सात वारों का जो क्रम है वह तो सर्वत्र एक-सा ही है; सब देशों में रवि के बाद सोमवार ही आता है, और सोमवार के पश्चात् मंगलवार ही आता है। रविवार के बाद बीच में सोमवार आये बिना सीधा मंगलवार आ जाये—ऐसा कभी किसी देश में नहीं होता। उसी प्रकार द्रव्य की जो क्रमबद्धपर्याय है वह कभी किसी द्रव्य में उलटी-सीधी नहीं होती। सात वारों में, जिस वार के पश्चात् जिस वार का क्रम होता है वही वार आता है; उसी प्रकार द्रव्य में जिस पर्याय के पश्चात् जिस पर्याय का क्रम (स्वकाल) होता है वही पर्याय होती

है। यह ज्ञायकजीव अपने ज्ञायकपने को भूलकर उसमें फेरफार करना चाहे तो वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि वह पर में कर्तृत्व मानकर उसे बदलना चाहता है। मैं ज्ञाता हूँ—इस प्रकार ज्ञानसन्मुख परिणमित न होकर, रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है; वह जीव क्रमवद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन में शुद्ध पर्याय ही होती जाती है।

(४) "क्रमवद्धपर्याय" का चौथा दृष्टांत है—माला के मोती का। जिस प्रकार १०८ मोतियों की माला में प्रत्येक मोती का क्रम नियमित है; किसी मोती का क्रम इधर-उधर नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य की अनादि-अनन्त पर्यायमाला-पर्यायों की पंक्ति—है, उसमें प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है; कोई पर्याय इधर-उधर नहीं होती। (—देखो, प्रवचनसार गाथा ९९ टीका)

देखो, यह वस्तुस्वरूप !

(४०) हे जीव ! तू ज्ञायक को लक्ष में लेकर विचार

भाई, यह समझने के लिये कहीं बड़े-बड़े न्यायशास्त्रों का अध्ययन करना पड़े ऐसा नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि इस ओर मैं ज्ञायक हूँ—मेरा सर्वज्ञ-स्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमवद्ध ? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमवद्धपर्याय की वात सीधी जम जाये ऐसी है; किन्तु ज्ञायक-स्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता। निर्णय करनेवाला तो ज्ञायक है, उस ज्ञायक के ही निर्णय विना पर का या क्रमवद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन ? "मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार स्वभाव में एकता करके साधकजीव ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। जिसकी मुख्यता है उसीका

कर्ता-भोक्ता है। ज्ञानी को राग की मुख्यता नहीं है इसलिये उसका कर्ता-भोक्ता नहीं है। राग को गौण करके, व्यवहार मानकर अभूतार्थ कहा है इसलिये ज्ञानी रागरूप से उत्पन्न होता ही नहीं। इस प्रकार अभेद की बात है;—ज्ञायक में अभेद हुआ वह ज्ञान-आनंद-श्रद्धादिरूप ही उत्पन्न होता है; राग में अभेद नहीं है इसलिये वह रागरूप से उत्पन्न ही नहीं होता। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि के निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप ही ज्ञानी उत्पन्न होता है।

(४१) क्रमबद्धपना किस प्रकार है?

यहाँ "क्रमबद्धपरिणाम" कहा जाता है, उसका क्या अर्थ? पहले एक गुण परिणमित होता है, फिर दूसरा और उसके बाद तीसरा —ऐसा क्रमबद्धपरिणाम का अर्थ नहीं है। अनन्त गुण हैं वे कहीं एक के बाद एक परिणमित नहीं होते। गुण तो सब एकसाथ ही परिणमित होते हैं इसलिये अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एकसाथ हैं; किन्तु यहाँ तो गुणों के परिणाम एक के बाद एक (ऊर्ध्वक्रम से) उत्पन्न होते हैं उसकी बात है। गुण सहभाव-रूप—एकसाथ—हैं; किन्तु पर्यायें क्रमभावरूप—एक के बाद एक —हैं। एक के बाद एक होने के उपरान्त वह प्रत्येक पर्याय स्वकाल में नियमित—व्यवस्थित है।—यह बात लोगों को जमती नहीं है और फेरफार करना—पर का कर्तृत्व—मानते हैं। आचार्यप्रभु समझाते हैं कि भाई! ज्ञानस्वभाव तो सब को जानता है या किसी को बदल देता है? अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके तू स्वोन्मुख हो जा और पर को बदलने की मिथ्याबुद्धि छोड़ दे।

(४२) * ज्ञान और ज्ञेय की परिणमन धारा;

* केवलीभगवान के दृष्टांत से साधकदशा की समझ

केवलज्ञानी भगवान को परिपूर्ण स्व-परप्रकाशकभाव परिणमित हो रहा है और सामने संपूर्ण ज्ञेय ज्ञात हो गया है। सारे ज्ञेय

क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं और यहाँ पूर्ण ज्ञान तथा उसके साथ पूर्ण आनन्द, वीर्यादि क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित—क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं तथापि कोई किसीको बदलता नहीं है, किसीके कारण कोई नहीं है।

ज्ञेयों में पहले समय जो वर्तमानरूप है वह दूसरे समय भूतरूप हो जाता है, और भविष्य उस वर्तमानरूप होता जाता है इस प्रकार ज्ञान की पर्यायें भी बदलती हैं; परन्तु ज्ञान तो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों को एकसाथ जानता है, वह कहीं क्रम से नहीं जानता। यहाँ पूरा ज्ञायकभाव और सामने सब ज्ञेय—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय की परिणमनधारा चली जाती है, उसमें बीच में भगवान को रागादि नहीं आते। यहाँ केवलीभगवान का उदाहरण देकर ऐसा समझाना है कि—जिस प्रकार भगवान अकेले ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं उसी प्रकार साधकज्ञानी भी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं; उनका ज्ञान राग को ज्ञेयरूप से जानता हुआ प्रवर्तित नहीं होता। "भगवान का केवलज्ञान लोकालोक का अवलंवन लेकर प्रवर्तित होता है"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह तो ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य की विशालता बतलाने के लिये कहा है; केवलज्ञान में कहीं पर का अवलंवन नहीं है। उसी प्रकार साधक के ज्ञान में अपने ज्ञायकस्वभाव के सिवा अन्य किसी का अवलंवन नहीं है।

केवलीभगवान को तो रागादिरूप व्यवहार रहा ही नहीं है; साधक को भूमिकानुसार अल्प रागादि हैं वे व्यवहारज्ञेयरूप से हैं; इसलिये कहा है कि "व्यवहार जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है" किन्तु साधक को उस व्यवहार का अवलम्बन नहीं है; अवलम्बन तो अंतर के परमार्थभूत ज्ञायकस्वभाव का ही है। स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य में उस-उस काल का व्यवहार और निमित्त ज्ञेयरूप से हैं।

(४३) "जीव" कैसा ? और जीव की प्रभुता काहे में ?

यहाँ स्वभाव के साथ अभेद होकर जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हींको जीव कहा है; रागादि में अभेद होकर वास्तव में ज्ञानी जीव उत्पन्न नहीं होता। ज्ञायकभाव के अवलम्बन से जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए वे जीव के साथ अभेद हैं, इसलिये वे जीव हैं, उनमें राग का या अजीव का अवलम्बन नहीं है इसलिये वे अजीव नहीं है।

देखो, यह जीव की प्रभुता ! प्रभो ! अपनी प्रभुता में तू है,—राग में या अजीव में तू नहीं है। तेरी प्रभुता तेरे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन में है, अजीव के अवलम्बन में तेरी प्रभुता नहीं है; अपने ज्ञायकभाव के परिणमन में तेरी प्रभुता है, राग के परिणमन में तेरी प्रभुता नहीं है। कोई भगवान जगत के नियामक हैं—यह बात तो झूठ है, किन्तु तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-पर का निश्चायक है—निश्चय करनेवाला है—ज्ञाता है। ज्ञेय की क्रमबद्ध अवस्था के कारण यहाँ वैसा परिणमन होता है-ऐसा भी नहीं है। और ज्ञान के कारण ज्ञेयों का क्रमबद्ध ऐसा परिणमन होता है—ऐसा भी नहीं है।

(४४) "पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम"

देखो, ग्राम का स्टेशन बाजार से बिलकुल निकट है। दो मिनट में स्टेशन पहुँचा जा सके—इतने निकट है। कभी गाड़ी में जाना हो, और घर भोजन करने बैठे हों वहाँ गाड़ी की सीटी सुनाई दे। पहले धीरे-धीरे भोजन कर रहे हों और गाड़ी आने की सूचना मिलते ही जल्दी खाने की इच्छा हो जाये तथा और भी जल्दी से उठने लगें; तथापि सब क्रमबद्ध अपने-अपने कारण ही है।

—गाड़ी आई इसलिये ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है, और

—ज्ञान के कारण गाड़ी नहीं आई है।

—गाड़ी आने का ज्ञान हुआ इसलिये उस ज्ञान के कारण जल्दी खाने की इच्छा हुई—ऐसा भी नहीं है;

—ज्ञान के कारण या इच्छा के कारण खाने की क्रिया में शीघ्रता आई—ऐसा भी नहीं है।

—प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी क्रमबद्ध योग्यतानुसार परिणमित होता है,—ऐसा समझे तो ज्ञायकत्व हुए बिना न रहे।

इसी प्रकार, कोई मनुष्य घूमने जाये और धीरे-धीरे चल रहा हो, किन्तु जहाँ पानी बरसना प्रारम्भ हो कि एकदम तेजी से पैर उठने लगते हैं;—इसमें भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति जीव-अजीव के परिणमन की स्वतंत्रता समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लोक में कहावत है कि— "दाने-दाने पर खाने-वाले का नाम;" उसी प्रकार यहाँ "पर्याय-पर्याय में स्वकाल का नाम" है; और आत्मा में "पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम" हो रहा है। किन्तु मूढ़ जीव विपरीतदृष्टि से पर का कर्तृत्व मानता है।

(४५) मूढ़ जीव मुँह आये वैसा बकता है

शरीर की बात आये वहाँ अज्ञानी कहता है कि—"जीव के बिना कहीं शरीर की क्रिया हो सकती है? जीव हो तभी शरीर की क्रिया होती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि जीव हो तो अजीव के परिणाम होते हैं, यानी अजीव में तो मानो कुछ शक्ति ही न हो! —ऐसा वह मूढ़ मानता है।

और जहाँ कर्म की बात आये वहाँ वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि— "भाई! कर्म का जोर है, कर्म जीव को विकार कराते हैं और कर्म ही उसे भटकाते हैं!"—अरे भाई! अजीव में बल तो नहीं था, फिर कहाँ से आ गया? कर्म जीव को बलात् परिणमित कराते हैं;—यानी जीव में स्वाधीन परिणमन करने की तो मानो

कोई शक्ति ही न हो—ऐसा वह मूढ़ मानता है। जीव-अजीव की स्वतंत्रता के भान बिना अज्ञानी क्षण में इधर और क्षण में उधर, जैसा मुँह आये वैसा बकते हैं।

(४६) अज्ञानी की बिलकुल विपरीत बात; ज्ञानी की अपूर्वदृष्टि

पुनश्च, थर्मामीटर का दृष्टान्त देकर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि—जितना बुखार हो उतना ही थर्मामीटर में आता है; उसी प्रकार जितना उदय हो तदनुसार ही विकार होता है।—यह बात भी झूठी है। भाई, तेरी दृष्टि विपरीत है और तेरा दृष्टान्त भी उलटा है। किसी समय १०५ डिग्री बुखार हो, तथापि थर्मामीटर में उतना नहीं आता। उसी प्रकार उदयानुसार ही जीव को विकार हो—ऐसा कभी होता ही नहीं।

"उदयानुसार ही विकार होता है"—यह बात तो महान स्थूल-विपरीत है। किन्तु, जीव स्वयं विकार करके उदय को निमित्त बनाये —यह बात भी यहाँ नहीं है। जो अज्ञानी जीव विकार का कर्ता होता है उसीको कर्म के साथ सम्बन्ध है, किन्तु ज्ञानी तो ज्ञायक-भावरूप ही परिणमित होते हैं, ज्ञायकभाव में कर्म के साथ सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके स्वसन्मुख ज्ञाता-रूप से परिणमित होना ही अपूर्व धर्म है, और वह जीव वास्तव में अकर्ता है। अकर्तापनेरूप अपना जो ज्ञायकभाव है उसका वह कर्ता है, किन्तु राग का या कर्म का कर्ता नहीं है।

(४७) "मूर्ख...."

देखो, शास्त्र में ऐसा आता है कि—"कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ.......अर्थात् कभी जीव बलवान होता है और कभी कर्म बलवान हो जाते हैं";—किन्तु अज्ञानी उसका आशय नहीं समझते और विपरीत मानते हैं। जीव ने पुरुषार्थ नहीं किया तब निमित्त से कर्म को बलवान कहा। परन्तु कर्म का उदय

ही जीव को जबरन् राग-द्वेषरूप परिणमित करता है—ऐसा जो मानता है उसे तो पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार में 'मूर्ख' कहते हैं—

> कोऊ मूरख यों कहै, राग दोष परिनाम ।
> पुग्गल की जोरावरी बरतै आतमराम ॥ ६२ ॥"

(४८) विपरीत मान्यता का जोर!! (उसके चार उदाहरण)

(१) विपरीत दृष्टि ही जीव को सीधा नहीं समझने देती। देखो, "उदयानुसार विकार होता है"—ऐसा माननेवाले को भी उदयानुसार तो विकार होता ही नहीं; उसके शास्त्रस्वाध्यायादि में (भले ही विपरीत दृष्टिपूर्वक) मंदराग तो वर्तता है; ज्ञान में भी इसी प्रकार आता है; कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसा कहीं उसके ज्ञान में तो ज्ञात नहीं होता, तथापि उसकी विपरीत दृष्टि का बल उसे ऐसा मनाता है कि "उदयानुसार विकार होता है।" उसकी विपरीत मान्यता में मिथ्यात्व का इतना जोर पड़ा है कि अनंता उदय आये तो मुझे वैसा होना पड़ेगा—ऐसा उसका अभिप्राय वर्तता है; इसलिये उसमें तीव्र मिथ्यात्व सहित निगोददशा की ही आराधना का जोर पड़ा है।

(२) इसी प्रकार विपरीत दृष्टि का दूसरा उदाहरण :— स्थानकवासी के तेरापंथी लोग असंयमी के प्रति दया-दानादि भावों को भी पाप मनाते हैं। किसी जीव के बचाने का या दानादि का भाव हो तब उसे अपनेको कोमल परिणामरूप शुभभाव है; उस समय उसके ज्ञान में भी ऐसा ही ख्याल आता है कि यह कुछ शुभपरिणाम है; उस समय ज्ञान में कहीं ऐसा ख्याल नहीं आता कि "यह पाप परिणाम है;" किन्तु विपरीत श्रद्धा का जोर ऐसा है कि अपने को शुभभाव होने पर भी उसे पाप मनाती है। दया-दान को पाप माननेवाले तेरापंथी को भी दया-दान के समय कहीं पापभाव नहीं

है; तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह उसे पाप मानता है।

(३) इसी प्रकार तीसरा उदाहरण :— जिन प्रतिमा के दर्शन-पूजन—भक्ति आदि में शुभभाव है: तथापि स्थानकवासी उसे पाप मनाते हैं; जिनप्रतिमा के दर्शनादि में उसे शुभभाव होते हैं तथापि, और ज्ञान में भी उस समय "यह शुभ है"—ऐसा आने पर भी, विपरीत मान्यता का जोर उस शुभ को भी पाप मनाता है।

(४) एक चौथा उदाहरण यह है कि—दया, पूजा या व्रतादि का भाव शुभराग है, वह कहीं धर्म नहीं है; तथापि मिथ्यादृष्टि को विपरीत मान्यता उसे धर्म मानती है। उस शुभराग के समय अज्ञानी को भी ज्ञान में तो ऐसा आया है कि—"यह राग हुआ," किन्तु धर्म हुआ—ऐसा कहीं ज्ञान में नहीं आया है; अर्थात् राग के समय उस राग का ही ज्ञान हुआ है; तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह राग को धर्म मानता है। राग से धर्म माननेवाले को स्वयं भी कहीं राग से धर्म नहीं हो जाता, तथापि विपरीत मान्यता का जोर उसे इस प्रकार मनाता है।

—वह विपरीत मान्यता कैसे दूर हो?—यह बात आचार्यदेव समझाते हैं।

(४९) ज्ञायक सन्मुख हो!—यही जैनमार्ग है

हे भाई! एक बार तू स्वसन्मुख हो और ज्ञायकस्वभाव को प्रतीति में लेकर श्रद्धा-ज्ञान को सच्चा बना, तो तुझे सब सीधा-सच्चा भासित होगा और तेरी विपरीत मान्यता दूर हो जायेगी। उपयोग को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसा जब तक वेदन न हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता और विपरीत मान्यता भी नहीं टलती। बस! ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा में एकाग्र किया उसमें सम्पूर्ण मार्ग का समावेश हो गया, सारा जैनशासन उसमें आ गया।

(५०) सम्यग्दृष्टि—ज्ञाता क्या करता है ?

"सर्वविशुद्धज्ञान" कहो या अभेदरूप से ज्ञानात्मक शुद्ध द्रव्य कहो—उसका यह अधिकार है। शुद्ध ज्ञायकद्रव्य की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानी को ज्ञान में क्या क्या होता है उसका यह वर्णन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर जीव क्या करता है? —अथवा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का क्या कार्य है? वह यहाँ समझाते हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है; सात तत्त्वों में जीवतत्त्व ज्ञायकस्वरूप है। मैं ज्ञायकस्वरूप जीव हूँ—ऐसा जाननेवाला सम्यक्त्वी पर्याय-पर्याय में ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है। ज्ञाता स्वयं प्रतिक्षण अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करता है; उस क्षण वर्तते हुए राग का वह ज्ञायक है किन्तु उसका कर्ता नहीं है। ज्ञाता उस काल वर्तते हुए रागादि को—व्यवहार को जानता है, वह राग के कारण नहीं किन्तु उस समय के अपने ज्ञान के कारण वह राग को भी जानता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानपरिणामरूप से उत्पन्न होता है।

(५१) निमित्त का अस्तित्व कार्य की पराधीनता सूचित नहीं करता

अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है; कोई दूसरा उसका उत्पन्न करनेवाला नहीं है। देखो, घड़ा होता है, वहाँ मिट्टी के परमाणु स्वयं उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं; कुम्हार उन्हें उत्पन्न नहीं करता। कुम्हार ने घड़ा बनाया—ऐसा कहना तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है। "निमित्त" कहीं नैमित्तिककार्य की पराधीनता नहीं बतलाता। एक वस्तु के कार्य के समय निमित्तरूप से दूसरी वस्तु का अस्तित्व हो, वह कहीं कार्य की पराधीनता नहीं बतलाता, किन्तु ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाया है।

(५२) श्री रामचन्द्रजी के दृष्टान्त द्वारा धर्मात्मा के कार्य की समझ

जिस समय श्री राम—लक्ष्मण—सीता वन में थे, तब वे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे। रामचन्द्र जी बलदेव थे और लक्ष्मण वासुदेव। वे महान चतुर, बहत्तर कला के ज्ञाता श्लाका पुरुष थे। जंगल में हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमें भोजन बनाते थे। "राम ने बर्तन बनाये"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो मिट्टी के परमाणु स्वयं उन बर्तनों की अवस्था-रूप से उत्पन्न हुए हैं। रामचन्द्र जी तो आत्मज्ञानी थे, और उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते थे; मिट्टी की पर्याय को मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा वे नहीं मानते थे; स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होते हुए उस समय के विकल्प को और बर्तन बनने की क्रिया को जानते थे। ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते थे किन्तु राग के या जड़ की क्रिया के कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते थे। देखो, यह धर्मी का कार्य! ऐसी धर्मी की दशा है; इससे विपरीत माने तो वह अज्ञानी है, उसे धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है।

(५३) आहारदान प्रसंग के दृष्टान्त से ज्ञानी के कार्य की समझ

सुगुप्ति और गुप्ति नाम के मुनिओं का ऐसा अभिग्रह था कि राजकुमार हो, वन में हो और अपने ही हाथ से बनाये हुए बर्तन में विधिपूर्वक आहार दे तो वह आहार लेंगे। ठीक उसी समय राम-लक्ष्मण-सीता वन में थे; हाथ से बनाये हुए बर्तन में आहार बनाया था और ऐसी भावना कर रहे थे कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार दें; वहीं संयोगवशात् वे मुनिवर पधारे और उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहन करके नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान दिया। इस प्रकार मुनियों के अभिग्रह का प्राकृतिक संयोग मिल गया। ऐसा संयोग अपने आप हो जाता है। किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञायक हूँ; यह आहार देने-लेने की क्रिया हुई वह मेरा कार्य नहीं है; मुनिवरों के प्रति भक्ति का शुभभाव हुआ वह भी वास्तव में ज्ञाता का कार्य नहीं है। रामचन्द्रजी ज्ञानी थे, उन्हें इस सबकी खबर थी। आहारदान की बाह्यक्रिया के या उस ओर के विकल्प के, परमार्थ से ज्ञानी कर्ता नहीं हैं; उस समय अंतर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षण ज्ञान-श्रद्धा-आनंदादि की पर्याय का स्वयं अपने को दान देता है; उस दान में स्वयं ही देनेवाला है और स्वयं ही लेनेवाला। निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसका कर्ता भी स्वयं, और सम्प्रदान भी स्वयं। ज्ञान-आनन्द की पंक्ति के सिवा रागादि का या पर की पर्याय का आत्मा ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है; अपनी निर्मल ज्ञान-आनन्ददशा का ही ज्ञानी कर्ता है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए संत मुनिवरों को देखकर ज्ञानी कहें कि—"हे नाथ! पधारो....पधारो!! मनशुद्धि-वचनशुद्धि-कायशुद्धि-आहारशुद्धि....हे प्रभो! हमारे आँगन को पावन कीजिये! हमारे आँगन में आज कल्पवृक्ष फले, हमें जंगल में मंगल हुआ।" —तथापि उस समय ज्ञानी उस भाषा के और राग के कर्तारूप से

परिणमित नहीं होते, किन्तु ज्ञायकपने की ही क्रमवद्धपर्याय के कर्ता-रूप से परिणमित होते हैं। अज्ञानियों को यह वात वैठना कठिन होता है।

(५४) रामचन्द्रजी के वनवास के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के कार्य की समझ

राजगद्दी के वदले रामचन्द्रजी को वनवास हुआ,—तो क्या वह अक्रमबद्ध हुआ? अथवा, राजगद्दी का क्रम था, किन्तु कैकेयी माता के कारण वह बदल गया—ऐसा है?—नहीं; माता-पिता के या किसी और के कारण वनवास की अवस्था हुई ऐसा नहीं है; तथा अवस्था का क्रम बदल गया ऐसा भी नहीं है। रामचन्द्रजो जानते थे कि मैं तो ज्ञान हूँ; इस समय ऐसा ही क्षेत्र मेरे ज्ञान के ज्ञेयरूप से होगा;—ऐसी ही स्व–परप्रकाशक–शक्तिरूप से मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है। राजभवन में होऊँ या वन में होऊँ, किन्तु मैं तो स्व–परप्रकाशक ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ। राजमहल भी ज्ञेय है और यह वन भी मेरे ज्ञान का ज्ञेय है; इस समय इस वन को जाने ऐसो ही मेरे ज्ञान की स्व–परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई है। इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञायकदृष्टि नहीं छूटती; ज्ञायकदृष्टि में वे निर्मल ज्ञानपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

(५५) ज्ञानी ज्ञाता रहता है; अज्ञानी राग का कर्ता होता है और पर को बदलना चाहता है

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके ज्ञातारूप से न रहकर अज्ञानी रागादि का कर्ता हो कर पर के क्रम को बदलने जाता है। उसे अभी राग करना है और पर को बदलना है; किन्तु ज्ञातारूप से नहीं रहना है; उसे ज्ञातृत्व नहीं जमता इसलिये उसे ज्ञान के प्रति क्रोध है; तथा पर के क्रमवद्धपरिणमन पर (वस्तु के स्वभाव पर)

द्वेष है इसलिये उसके क्रम को बदलना चाहता है;—इस प्रकार यह मिथ्यादृष्टि के अनंत राग-द्वेष हैं। अमुक समय अमुक प्रकार का राग बदलकर उसके बदले ऐसा ही राग करूँ—इस प्रकार जो हठ करके राग को बदलना चाहता है उसे भी राग के साथ एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व होता है। भूमिका अनुसार जो राग होता है उसे साधक जानते हैं; उस राग को ज्ञान का ज्ञेय बना देते हैं, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नहीं बनाते; और राग होने पर ज्ञान में शंका भी नहीं पड़ती। हठपूर्वक राग को बदलने जाये तो उसे उस समय के (राग को भी जाननेवाले) स्व-परप्रकाशक ज्ञान की प्रतीति नहीं है इसलिये ज्ञान पर ही द्वेष है। ज्ञानी तो ज्ञायकदृष्टि के बल में ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते हैं, रागरूप से उत्पन्न नहीं होते; राग के भी ज्ञातारूप से उत्पन्न होते हैं किन्तु उसके कर्तारूप से उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टि का ऐसा कार्य है। अज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति न रखकर, पर्यायमूढ़ होकर पर्याय को बदलना चाहता है; अथवा पर ज्ञेयों के कारण ज्ञान मानता है; इसलिये वह ज्ञेयों को जानते हुए उन्हींमें राग-द्वेष करके अटक जाता है, किन्तु इधर ज्ञायकस्वभाव की ओर नहीं ढलता।

(५६) जैन के वेष में बौद्ध

* बौद्धमती ऐसा कहते हैं कि—"ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है; सामने घड़ा हो तो यहाँ घड़े का ही ज्ञान होता है। घड़े के समय घड़े का ही ज्ञान होता है कि "यह हाथी है"—ऐसा ज्ञात नहीं होता; इसलिये ज्ञेय के कारण ही ज्ञान होता है।" किन्तु उनकी यह बात मिथ्या है। ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता किन्तु सामान्य ज्ञान स्वयं ही विशेष ज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है इसलिये ज्ञान की अपनी ही वैसी योग्यता से घड़े आदि का ज्ञान होता है; उस ज्ञान के समय घड़ा आदि ज्ञेय तो मात्र निमित्त हैं।—ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करके, अकलंकदेव आचार्यादि महान संतों ने,

"ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है"—यह बात उड़ा दी है। उसके बदले आज जैन नाम धारण करनेवाले कुछ विद्वान भी ऐसा मानते हैं कि "निमित्त के कारण ज्ञान होता है, निमित्त के कारण कार्य होता है"—तो वे भी बौद्धमती जैसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए; बौद्ध के और उनके अभिप्राय में कोई अन्तर न रहा।

* पुनश्च, जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था हो—ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान होना बौद्ध कहते हैं, उसी प्रकार जैन में भी यदि कोई ऐसा माने कि—"ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था होती है, —जीव है इसलिये घड़ा होता है, जीव है इसलिये शरीर चलता है, जीव है इसलिये भाषा बोली जाती है"—तो यह मान्यता भी मिथ्या है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों की अवस्था क्रमबद्ध स्वतंत्ररूप से अपने-अपने कारण ही हो रही है।

* और, राग भी व्यवहार से ज्ञाता का ज्ञेय है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान, या ज्ञान के कारण ज्ञेय नहीं है, उसी प्रकार राग के कारण ज्ञान या ज्ञान के कारण राग भी नहीं है। राग हो वहाँ ज्ञान में भी राग ही ज्ञात होता है वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह राग है इसलिये उसके कारण राग का ज्ञान होता है; इसलिये राग से पृथक्—राग के अवलम्बन से रहित—ऐसा ज्ञान उसे भासित नहीं होता। मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायकस्वभाव में यह ज्ञान का प्रवाह आता है—ऐसी प्रतीति में ज्ञानी राग का भी ज्ञाता ही रहता है।

(५७) सच्चा समझनेवाले जीव का विवेक कैसा होता है ?

प्रश्न :— प्रत्येक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपने से ही होती है—ऐसी क्रमबद्धपर्याय की बात सुनेंगे तो लोग देव–गुरु–शास्त्र का बहुमान छोड़ देंगे; और जिन–मन्दिरादि नहीं बनवायेंगे ?

उत्तर :— अरे भाई ! जो यह बात समझेगा उसीको समझानेवाले का सच्चा बहुमान आयेगा। निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव को जाना तब क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की अपूर्व बात जो समझा, उसे वह बात समझानेवाले वीतरागी देव–गुरु–शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहेगा। "मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञायक की श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्याय को जानेगा वह अपनी भूमिका के राग को भी जानेगा। किस भूमिका में कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते हैं उनका भी वह विवेक करेगा। यह तो जागृतमार्ग है, यह कहीं अंधमार्ग नहीं है। साधकदशा में राग होता है, किन्तु उस राग की वृत्ति कुदेवादि के प्रति नहीं जाती, किन्तु सच्चे देव–गुरु के बहुमान की ओर वृत्ति जाती है। जो सच्चा समझे वह स्वच्छन्दी हो ही नहीं सकता, सच्ची समझ का फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव–गुरु का बहुमान आने से बाह्य में जिनमन्दिर बनवाने आदि के भाव आते हैं; किन्तु बाह्य में तो उसके अपने काल में जैसा होने योग्य हो वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजादि में भी समझ लेना चाहिये। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है; तथापि उस ज्ञान के या राग के कारण बाह्यक्रिया नहीं होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव जीवतत्त्व है;

राग आस्रवतत्त्व है; और

बाह्य शरीरादि की क्रिया अजीवतत्त्व है।

उसमें किसी के कारण कोई नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का भिन्न–भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये, तभी सच्ची तत्त्वार्थश्रद्धा होती है।

(५८) अपनी पर्याय में ही अपना प्र...भाव है

कोई कहता है कि—आपके प्रभाव से यह सब रचना हुई !—यह सब तो विनय की भाषा है। वास्तव में "प्रभाव" किसी का किसी पर नहीं है। सब की पर्याय में अपना-अपना ही प्र....भाव (विशेष प्रकार से भवन) है। आत्मा अपने ज्ञानरूप विशेषभाव से परिणमित हो, उसीमें उसका प्रभाव है; स्वयं अपने जिस निर्मल भावरूप से परिणमित हो उसीमें अपना प्रभाव है। किन्तु जीव का प्रभाव अजीव पर या अजीव का प्रभाव जीव पर नहीं है; प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न है; एक का दूसरे में अभाव है; इसलिये किसी का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। एक पर दूसरे का प्रभाव कहना-मात्र निमित्त का कथन है। (विशेष के लिये देखो, प्रथम भाग, प्रवचन चौथा, नं. १०८)

(५९) क्रमबद्ध के नाम पर मूढ़ जीव की गड़बड़ी

कुछ मूढ़ लोग ऐसी गड़बड़ी करते हैं कि—"पर्याय क्रमबद्ध जब होना हो तब हो जाती है; इसलिये चाहे जिस वेष में और चाहे जिस दशा में मुनिपना आ जाता है।" किन्तु चाहे जैसे मिथ्यासम्प्रदाय को मानता हो और चाहे जैसे निमित्त में विद्यमान हो, तथापि क्रमबद्ध में मुनिपना या सम्यग्दर्शन आ जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं। अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय क्या वस्तु है उसकी तुझे खबर नहीं है; सम्यग्दर्शन और मुनिपने की दशा कैसी होती है उसकी भी तुझे खबर नहीं है। अंतरंग ज्ञायकभाव में लीन होकर मुनिदशा प्रगट हुई वहाँ निमित्तरूप से जड़शरीर की दशा नग्न ही होती है। अब यह बात प्रसिद्धि में आने से कुछ स्वच्छन्दी लोग क्रमबद्ध के शब्द पकड़कर बात करना सीखे हैं। किन्तु यदि क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ समझें तब तो निमित्त आदि चारों पक्षों का मेल बराबर मिलना चाहिये।

(६०) ज्ञायक और क्रमबद्ध का निर्णय करके स्वाश्रय का परिणमन हुआ, उसमें व्रत-प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्न :— इस क्रमबद्धपर्याय में व्रत–समिति–गुप्ति–प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान–प्रायश्चित आदि कहाँ आये ?

उत्तर :— जिसका ज्ञान पर से हटकर ज्ञायक में एकाग्र हुआ है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय है, और ज्ञायक में एकाग्र होकर परिणमित हुआ उसमें व्रत–समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव में ज्ञान की एकाग्रता–वह ध्यान है और उस ध्यान में निश्चय व्रत–तप–प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसार की ११९वीं गाथा में कहा है कि—

> आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
> शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥ ११९ ॥

निज आत्मा का आश्रय कर के ज्ञान एकाग्र हुआ वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावों का अभाव करने में समर्थ है; "तम्हा झाण हवे सव्वं"—इसलिये ध्यान सर्वस्व है; शुद्ध आत्मा के ध्यान में सर्व निश्चय आचारों (पंचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं करता, उसे कभी धर्मध्यान नहीं होता। ध्यान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञायक की ओर न ढले, क्रमबद्धपर्याय को न जाने, और पर में फेरफार करना माने—ऐसे जीव का ज्ञान परसन्मुखता से हटकर स्व में एकाग्र होता ही नहीं, इसलिये उसे धर्मध्यान होता ही नहीं; पर में एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायक का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके, ज्ञायक में ही एकाग्रदृष्टि से क्रमबद्धज्ञातारूप से ही परिणमित होता है। ज्ञायक में एकाग्रता का जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ उसमें निश्चय प्रतिक्रमण–

प्रत्याख्यान-सामायिक-व्रत-तपादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ही परिणमित होता है; वहाँ निर्मल पर्यायें होती जाती हैं। बीच में जो व्यवहार परिणति होती है उसे ज्ञान जानता है किन्तु उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तित नहीं होता; स्वभाव में एकाग्ररूप से ही वर्तता है और उसमें जैनशासन आ जाता है।

(६१) "अभाव, अतिभाव (—विभाव), और समभाव"

ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सच्चा समभाव होता है; उसके बदले जो संयोग के आश्रय से समभाव होना मनाये, उसे वस्तु-स्वरूप की खबर नहीं है;—जैनशासन की खबर नहीं है। कोई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"गरीबों के पास धनादि का "अ...भाव". है, और धनवानों के पास उसका "अतिभाव" है; इसलिये जगत में प्रतिद्वन्दिता और क्लेश होता है; यदि अतिभाववाले अतिरिक्त का त्याग कर के अभाववालों को दे दें तो "समभाव" हो जाये और सबको शांति हो; इसलिये हम अणुव्रत का प्रचार करते हैं।"—यह सब अज्ञानी की संयोगदृष्टि की बातें हैं। क्लेश या समभाव क्या संयोग के कारण होता है?—यह बात ही झूठी है। ज्ञायकस्वभाव से सभी जीव समान हैं; इसलिये ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ही सच्चा "समभाव" है; पर का आत्मा में "अभाव" है; और जो "विभाव" है वह उपाधिभाव होने से त्यागने योग्य है। इसके सिवा बाह्य में "अभाव, अतिभाव और समभाव" की बात तो संयोगदृष्टि की बात है, वह कहीं सच्चा मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार "वैभव कम हो तो खर्च घटे, और खर्च घटे तो पाप कम हो"—यह भी बाह्यदृष्टि की बातें हैं। निगोदिया जीवों के पास एक पाई का भी वैभव या खर्च नहीं है; तथापि वे जीव अनंतपाप से महा दुःखी हो रहे हैं। कोई सम्यक्त्वी जीव चक्रवर्ती

हो, छह खण्ड का राज्यवैभव हो और प्रतिदिन करोड़ों-अरबों का खर्च होता हो, तथापि उसके पाप अत्यल्प हैं; और वास्तव में तो अखंड चैतन्यवैभव की दृष्टि में उसे पाप नहीं है, वह ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है; अल्प रागादि हैं वे तो ज्ञेय में जाते हैं; उनमें एकतारूप से ज्ञानी उत्पन्न नहीं होते।

(६२) अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता!

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्याय के साथ अनन्य है और पर के साथ अनन्य नहीं है—ऐसा अनेकान्त है; जीव अपनी पर्याय में तन्मय है इसलिये उसका कर्ता है, और पर की पर्याय में तन्मय नहीं है इसलिये उसका कर्ता नहीं है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और पर का भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। वस्तु का अनेकान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, पर का तीन काल में नहीं करता। अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें, किन्तु उससे कहीं वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता। "आप्तमीमांसा" गाथा ११० की टीका में कहते हैं कि—"वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावै है तो हम कहा करें? वादी पुकारै है "विरुद्ध है रे....विरुद्ध है...." तो पुकारो, किछु निरर्थक पुकारने में साध्य है नहीं।"—वस्तु ही स्वयं अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करें? वादी—अज्ञानी पुकारते हैं कि "विरुद्ध है रे....विरुद्ध है"—तो भले पुकारो; उनकी निरर्थक पुकार से कुछ साध्य नहीं है। अज्ञानी विरोध की पुकार करें तो उससे कहीं वस्तुस्वरूप बदल नहीं जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और पर के चतुष्टयरूप वह नहीं है;—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। पर के चतुष्टय-

रूप से आत्मा अभावरूप है; तो पर में वह क्या करेगा? अज्ञानी चिल्ल-पों मचाते हैं तो भले मचायें; किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में भी अज्ञानी अनेक प्रकार से विरुद्ध मानते हैं; वे विरुद्ध मानते हैं तो भले मानें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है वही रहेगा; वह नहीं बदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीनकाल-तीनलोक को सम्पूर्णतया जानता है और जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है वह किसी से नहीं बदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर, ज्ञायक-सन्मुख ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होते हैं, अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

प्रवचन : चौथा

[आश्विन शुक्ला १०, वीर सं. २४८०]

(६३) क्रमबद्ध में ज्ञायकसन्मुख निर्मल परिणमन की धारा प्रवाहित हो—उसीकी मुख्य बात है

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में मुख्य बात यह है कि—अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए उन्हींकी इसमें मुख्यता है; क्रमबद्धपरिणाम में ज्ञानी को निर्मल परिणाम ही होते हैं। ज्ञानी स्वसन्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि के निर्मल

परिणमन की नियतधारा में परिणमित होता है, उसको क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का प्रवाह चलता रहता है।

समस्त पदार्थों में मुख्य तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; क्योंकि ज्ञान ही स्व-पर को जानता है। ज्ञानस्वभाव न हो तो स्व-पर को जानेगा कौन? इसलिये ज्ञानस्वभाव ही मुख्य है। ज्ञानस्वभाव के निर्णय में सात तत्त्वों का तथा देव-गुरु-शास्त्र का और क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय समा जाता है। यहाँ लोकालोक को जानने के सामर्थ्यरूप से ज्ञान परिणमित होता है और सामने लोकालोक ज्ञेयरूप से क्रमबद्ध परिणमित होते हैं; ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक का मेल है किन्तु किसीके कारण कोई नहीं है। सब अपने-अपने क्रमबद्धप्रवाह में स्वयं परिणमित हो रहे हैं।

(६४) ज्ञायकभाव के क्रमबद्धपरिणमन में सात तत्त्वों की प्रतीति

अपने क्रमबद्ध होनेवाले परिणामों के साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमित हो रहा है; द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं। स्वसन्मुख-सन्मुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभाव के साथ अभेद है और राग से पृथक् है।—ऐसे आत्मा की प्रतीति जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायकआत्मा ज्ञायकभावरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ उसीमें तन्मय है, और अजीव में तन्मय नहीं है—राग में तन्मय नहीं है;—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति में सातत्त्वों की श्रद्धारूप सम्य-ग्दर्शन आ जाता है।

(१) ज्ञायकभाव के साथ जीव की अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई उसमें ज्ञायकस्वभावी जीव की प्रतीति आ गई।

(२) अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ एकत्व नहीं है; तथा अपनी क्रमबद्धपर्याय-

रूप से उत्पन्न होनेवाले अजीव का जीव के साथ एकत्व नहीं है; —इस प्रकार अजीवतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

(३–४) अब ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला साधकजीव उस–उस काल के रागादि को भी जानता है;—किन्तु उन रागादि को अपने शुद्धजीव के साथ तन्मय नहीं जानता, उन्हें आस्रव–बंध के साथ तन्मय जानता है;—इस प्रकार आस्रव और बंध तत्त्वों की श्रद्धा भी आ गई।

(५–६) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने को श्रद्धा–ज्ञान–आनंद आदि के निर्मल परिणाम होते हैं, वह संवर–निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते है, इसलिये संवर—निर्जरा की प्रतीति भी आ गई।

(७)संवर–निर्जरारूप अंश में शुद्धपर्यायरूप से तो स्वयं परिणमित होता ही है, और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—वह भी प्रतीति में आ गया है, इसलिये मोक्षतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

—इस प्रकार ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित जीव को सातों तत्त्वों की प्रतीति आ ही गई है। ("क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सातों तत्त्वों की श्रद्धा और जैनशासन"—इसके लिये देखिये आत्मधर्म अंक ११९–२० प्रवचन चौथा, नं. ९३—९५)

(६५) अज्ञानी के सातों तत्त्वों में भूल

(१–२) अज्ञानी को अपने ज्ञायकभाव की खबर नहीं है और शरीरादि अजीव की क्रमबद्धपर्यायों को मैं बदल सकता हूँ—ऐसा वह मानता है, यानी अजीव के साथ अपनी एकता मानता है, इसलिये उसकी जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(३–४) और जो शुभरागादि पुण्यभाव होते हैं वे आस्रव के साथ तन्मय हैं; उसके बदले उन्हें धर्म मानता है, यानी शुद्ध जीव के साथ एकमेक मानता है इसलिये उसकी आस्रव–बंध तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(५-६) आत्मा की शुद्ध वीतरागीदशा संवर-निर्जरा है, उसके बदले पंचमहाव्रतादि के शुभराग को संवर-निर्जरा मानता है, इसलिये संवर-निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(७) और मोक्ष का कारण भी उसने विपरीत माना इसलिये मोक्ष की श्रद्धा में भी उसकी भूल है।

—इस प्रकार अज्ञानी की सातों तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(६६) भेदज्ञान का अधिकार

जीव-अजीव की क्रमबद्धपर्याय को पहिचाने तो उसमें भेदज्ञान और सातों तत्वों की यथार्थ श्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार यह भेदज्ञान का अधिकार है।

(६७) "क्रमबद्धपर्याय" की उत्पत्ति अपनी अंतरंग योग्यता के सिवा अन्य किसी बाह्यकारण से नहीं होती

क्रमबद्धपर्याय कहो या "योग्यता" कहो, तदनुसार ही कार्य होता है। पर्याय की योग्यता स्वयं ही अंतरंगकारण है; दूसरा निमित्त तो बाह्यकारण है। अंतरंगकारण के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है; बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। श्री षट्खण्डागम की धवलटीका में वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्ध में अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक रहते हैं, जब कि आयुकर्म के परमाणुओं की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है:—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर की और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागर की ही :— ऐसा क्यों? तो षट्खण्डागम में आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृतिविशेष होने से उस प्रकार स्थितिबंध होता है; अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियों की वैसी ही अंतरंग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अंतरंग–

कारण से ही वैसा कार्य होता है।—ऐसा कहकर वहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि—"सर्वत्र अंतरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चहिये।"

दूसरा दृष्टान्त लें :— दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म अंश और योग का कम्पन है; वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों का बंध होता है; उनमें ज्ञानावरणादि की अंतमुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की; तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बंधती है। छहों कर्मों का बंध एक साथ होने पर भी, स्थिति में इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति में क्यों ऐसा अंतर होता है? —ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि "प्रकृतिविशेष होने से"—अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृति का अंतरंग कारण ही वैसा है; और उस अन्तरंग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध में कहा उसी प्रकार "वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक, और दूसरे कर्म में थोड़ी—ऐसा क्यों?"—ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन-उन प्रकृतियों का वैसा ही स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो, योग्यता कहो, या अन्तरंगकारण कहो—उसीसे कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त वाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कभी वाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

निमित्त तो वाह्यकारण है; उस वाह्यकारण के कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके वल से नीम के वृक्ष से आमों की पैदावार हो, या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव में से अजीव हो जाये। यदि वाह्यकारणा-

नुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो, तब तो अजीव के निमित्त से जीव भी अजीवरूप हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता; क्योंकि बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती; अंतरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। (देखो, षट्खण्डागम पुस्तक ६—पृ. १६४)

(६८) निमित्त और नैमित्तिक की स्वतंत्रता

द्रव्य में किस समय परिणमन नहीं है?—और जगत में किस समय निमित्त नहीं है?—जगत के प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय परिणमन हो ही रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है;—तब फिर इस निमित्त के कारण यह हुआ—यह बात कहाँ रहती है? और निमित्त न हो तो नहीं हो सकता—यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होने में और सामने निमित्त होने में कहीं समयभेद नहीं है। निमित्त का अस्तित्व कहीं नैमित्तिककार्य की पराधीनता नहीं बतलाता; किन्तु निमित किसका?—कहते हैं नैमित्तिककार्य हुआ उसका;—इस प्रकार वह नैमित्तिक को प्रगट करता है।—ऐसी निमित्त—नैमित्तिक की स्वतंत्रता भी जो न जाने उसे स्व—पर का भेदज्ञान नहीं है और अंतर में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो उसे होती ही नहीं। यहाँ तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से निमित्त के साथ का सम्बन्ध टूट जाता है—ऐसी सूक्ष्म बात है। ज्ञानी की दृष्टि में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध छूट गया है।

(६९) ज्ञायकदृष्टि में ज्ञानी का अकर्तृत्व

ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को पर के साथ कार्य-कारणपना नहीं है; अर्थात् वह नवीन कर्मबन्धन में निमित्त नहीं होता और पुराने कर्मों को निमित्त नहीं बनाता। कोई पूछे कि—राग का तो कर्ता है न? तो कहते हैं कि नहीं; राग पर दृष्टि न होने से ज्ञानी राग के कर्ता नहीं हैं; ज्ञायकदृष्टि में ज्ञायकभावरूप भी

उत्पन्न हों—और रागरूप भी उत्पन्न हों ऐसा नहीं होता। ज्ञायक तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता है—रागरूप से उत्पन्न नहीं होता, राग के ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है।

(७०) जीव के निमित्त बिना पुद्गल का परिणमन

प्रश्नः—पुद्गल तो अजीव है, कहीं जीव के निमित्त बिना उसकी अवस्था हो सकती है?

उत्तरः—भाई! जगत में अनन्तानन्त ऐसे सूक्ष्म परमाणु—पृथक् तथा स्कन्धरूप—हैं कि जिनको परिणमन में कालद्रव्य ही निमित्त है; जीव का निमित्तपना नहीं है। जीव के साथ निमित्त–नैमित्तिक-सम्बन्ध तो अमुक पुद्गलस्कन्धों को ही है; किन्तु उनसे अनंतगुने परमाणु तो जीव के साथ निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध बिना ही परिणमित हो रहे हैं। एक पृथक् परमाणु एक अंश में से दो अंश रूखेपन या चिकनेपनरूप परिणमित हो, वहाँ कौन-सा जीव निमित्त है!—उसे मात्र कालद्रव्य ही निमित्त है। अज्ञानी को संयोग में से ही देखने की दृष्टि है इसलिये वह वस्तु के स्वाधीन परिणमन को नहीं देखता। (निमित्त न हो तो?...क्या निमित्त के बिना हो सकता है?—इत्यादि प्रश्नों के स्पष्टीकरण के लिये अंक नं. ११६–१२० में पहलो बार के प्रवचनों में नं. १००–१०१, ११४ और १५० देखिये।)

(७१) ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञानी कर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है

यहाँ तो "सर्वविशुद्धज्ञान" की यानी जीव के स्वभाव की बात चल रही है। जीव का ज्ञानस्वभाव है वह पर का अकर्ता है।—निमित्तरूप से भी वह पर का अकर्ता है। पर में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि कर्मों की बात है। ज्ञानस्वभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी नहीं है। जीव को अजीव के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है; इसलिये

जीव अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होता हुआ, निमित्त होकर जड़ कर्म को भी उत्पन्न करे—ऐसा कभी नहीं होता।

सर्व द्रव्यों को दूसरे द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम का उत्पादक है किन्तु दूसरे के परिणाम का उत्पादक नहीं है। जैसे कि—कुम्हार अपने हाथ की हलन-चलनरूप अवस्था का उत्पादक है, किन्तु मिट्टी में से जो घड़ारूप अवस्था हुई उसका वह उत्पादक नहीं है, उसका उत्पादक तो मिट्टी ही है;—मिट्टी स्वयं ही उस अवस्था में तन्मय होकर घड़ारूप से उत्पन्न हुई है—कुम्हार नहीं। उसी प्रकार जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानादिपरिणामों का उत्पादक है, किन्तु अजीव का उत्पादक नहीं है। ज्ञानस्वभाव में तन्मय होकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव अपने ज्ञानपरिणाम का उत्पादक है, किन्तु रागादि का उत्पादक नहीं है; क्योंकि वह रागादि के साथ तन्मय होकर उत्पन्न नहीं होता; और रागादि का उत्पादक न होने से कर्मबंधन में वह निमित्त भी नहीं है; इस प्रकार वह जीव अकर्ता ही है। यह सारा विषय अन्तर्दृष्टि का है। अंतर् की ज्ञायकदृष्टि के बिना ऐसा अकर्तापना या क्रमबद्धपना समझ में नहीं आ सकता।

(७२) ज्ञानी को कैसा व्यवहार होता है, और कैसा नहीं होता?

देखो, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ५, सूत्र २१) में जीव के परस्पर उपकार की बात की है। वहाँ उपकार का अर्थ "निमित्त" है। एक जीव ने दूसरे का उपकार किया—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। किन्हीं ज्ञानीगुरु के निमित्त से अपूर्व आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि—"अहो! इन गुरुदेव का मुझपर अनन्त उपकार हुआ...." यद्यपि गुरु कहीं शिष्य के ज्ञान के उत्पादक नहीं हैं, तथापि वहाँ तो विनय के लिये निमित्त से गुरु का उपकार कहा जाता है; लेकिन उसी प्रकार यहाँ ज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि कर्मों

के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव भी लागू नहीं होता। ज्ञानी निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों की उत्पत्ति करें—ऐसा नहीं होता। "अहो! गुरु ही मेरे ज्ञान के उत्पादक हैं, गुरु ने ही मुझे ज्ञान दिया, गुरु ने ही आत्मा दिया"—ऐसा गुरु के उपकार के निमित्त से कहा जाता है—ऐसा व्यवहार तो ज्ञानी के होता है, किन्तु निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्म के उत्पादक हों—ऐसा व्यवहार ज्ञानी को लागू नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निश्चय अकर्तृत्व को जान लें, तब भूमिकानुसार कैसा व्यवहार होता है उसकी खबर पड़े। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना जो अकेले व्यवहार को जानने जाये, वह अंधा है; स्व-परप्रकाशकज्ञान जागृत हुए बिना व्यवहार को जानेगा कौन? अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको आत्मा का परमार्थस्वरूप मान लेता है, इसलिये उसे निश्चय या व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। ज्ञाता जागृत हुआ वही व्यवहार को यथावत् जानता है।

(७३) "मूलभूत ज्ञानकला" कैसे उत्पन्न होती है?

मूलभूत भेदज्ञान क्या वस्तु है, उसे लोग भूल गये हैं। पं. बनारसीदासजी कहते हैं कि:—

> चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरो।
> मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो॥
> ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहूँ गुन नाटक आगम केरो।
> जासु प्रसाद सधे सिवमारग, वेगि मिटे भववास बसेरो॥ ११ ॥

—इसमें कहते हैं कि मेरे ज्ञानकला उत्पन्न हुई; किस प्रकार उत्पन्न हुई? क्या किसी बाह्यसाधन से या व्यवहार के अवलम्बन से ज्ञानकला उत्पन्न हुई? नहीं; अंतर में मेरा स्वरूप सिद्ध-समान चैतन्यमूर्ति है—उसीके अवलम्बन से भेदज्ञानरूपी अपूर्व ज्ञानकला उत्पन्न हुई; जैसे सिद्धभगवान ज्ञायकबिम्ब हैं, उसी

प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है;—इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और अनुभव से ज्ञानकला उत्पन्न हुई। इसके सिवा अन्य रीति माने तो वह सिद्धभगवान या पंचपरमेष्ठीपद को नहीं मानना है।

(७४) "व्यवहार का लोप!!"—लेकिन किस व्यवहार का? और किसे?

अरे! इसमें तो व्यवहार का लोप हो जायेगा!!—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर:—"भाई! कौन से व्यवहार का लोप होगा? प्रथम तो बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया तो आत्मा को कभी है ही नहीं; इसलिये उसके लोप होने—न होने का प्रश्न ही नहीं रहता। अज्ञानी को विपरीतदृष्टि में कर्म के साथ निमित्त—नैमित्तिक-पने का व्यवहार रहता है; इस ज्ञायकदृष्टि में मिथ्यात्वादि कर्म के कर्तृत्वरूप उस व्यवहार का लोप हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार का अभाव नहीं करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है; इसलिये कर्म के साथ निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध का व्यवहारसम्बन्ध रखकर उसे संसार में भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ डाला वहाँ दृष्टि—अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टि में व्यवहार का निषेध करने के पश्चात् साधकपने में जिस-जिस भूमिका में जैसा—जैसा व्यवहार होता है उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है। और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता द्वारा शुभरागरूप व्यवहार का अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहार के अवलम्बन की ही जिसे रुचि और उल्लास है उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करने का भी अवकाश नहीं है। अंतर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें नहीं होतीं। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्व-भाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है।

(७५) क्रमबद्धपर्याय कब की है?—और वह कब निर्मल होती है?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है; यह बतलाने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात चल रही है।

प्रश्न :— यह क्रमबद्धपर्याय कब से चल रही है?

उत्तर :— अनादि से चल रही है। जिस प्रकार द्रव्य अनादि है, उसी प्रकार उसकी पर्याय का क्रम भी अनादि से चल ही रहा है। जितने तीनकाल के समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रश्न :— अनादिकाल से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि अभी निर्मल पर्याय क्यों नहीं हुई?

उत्तर :— समस्त जीवों को अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि ज्ञायक की ओर के सच्चे पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। विपरीत पुरुषार्थ हो वहाँ क्रमबद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव के भान बिना क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है, और ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय नहीं होती। ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने से क्रमबद्धपर्याय की भी सच्ची प्रतीति है, और ज्ञायक-स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ करने का यह उपदेश है

—ऐसा समझे वही क्रमबद्धपर्याय को समझा है।

(७६) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल

"क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है...."
—कौन उत्पन्न होता है ?
"द्रव्य उत्पन्न होता है...."
—कैसा द्रव्य ?
"ज्ञायकस्वभावी द्रव्य।"

जिसे ऐसे द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता हो उसीको क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझ में आती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल है।

(७७) इस समय पर्याय का पर में "अकर्तृत्व" सिद्ध करने की मुख्यता है, पर में निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है

यहाँ, पर्याय का पर में अकर्तृत्व बतलाना है, इसलिये "द्रव्य उत्पन्न होता है"—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्याय में वह तन्मय है,—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनों की अभेदता बतलाकर पर का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनों धर्म ही सिद्ध करना हों तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्म से ही है—द्रव्य के कारण नहीं है। क्योंकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनों धर्मों को निरपेक्ष न मानकर सामान्य के कारण विशेष मानें तो विशेषधर्म की हानि होती है; इसलिये पर्याय भी अपने से सत् है।—पर्यायधर्म को निरपेक्ष सिद्ध करना हो तब इस प्रकार कहा जाता है।

※ श्री समन्तभद्रस्वामी "आप्तमीमांसा" में कहते हैं कि—

(श्लोक : ७३)—जो धर्म धर्मी आदि के एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो धर्म धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा विना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य विशेषपणां न ठहरे।

(श्लोक : ७५) धर्म अर धर्मी के अविनाभाव है सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है; धर्म विना धर्मी नांहीं। बहुरि धर्म धर्मी का स्वरूप है सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नाहीं है, स्वरूप है सो स्वतः-सिद्ध है।

* प्रवचनसार की १७२वीं गाथा में "अलिंगग्रहण" के अर्थ में कहा है कि—"xxx इस प्रकार आत्मा द्रव्य से न आलिंगत ऐसा शुद्ध पर्याय है।"

* फिर १०१वीं गाथा में कहते हैं कि—"अंशी ऐसे द्रव्य के नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अंश —भंग–उत्पादक–ध्रौव्य–स्वरूप—निजधर्मों द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं।" व्यय नष्ट होते हुए भाव के आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भाव के आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भाव के आश्रित है।

* फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥ १८ ॥
उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥ १९ ॥

—इसमें कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानादिक की हीनता या अधिकता अपनी पर्याय के कारण ही होती है। ज्ञान–दर्शन–चारित्र का न तो इन्द्रियों के विषय से हरण होता है, और न तो गुरुओं की निरन्तर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वयं परिणमनशील होने से प्रतिसमय उसके गुणों की पर्याय बदलती है;—मतिज्ञानादिक

पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है; इसलिये मतिज्ञानादि का उत्पाद या विनाश, पर से भी नहीं है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नहीं है। प्रतिसमय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है; सामान्य-द्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है; पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो वह पर्याय स्वयं वैसी परिणमित हुई है। उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्यद्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है; किन्तु द्रव्य–पर्याय की निरपेक्षता के कथन में यह बात नहीं आती। निरपेक्षता के बिना एकान्त सापेक्षता ही मानें तो सामान्य–विशेष दो धर्म ही सिद्ध नहीं हो सकते।

* प्रवचनसार की १६वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निर-पेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धपयोग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो उसमें आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये "स्वयंभू" कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है; उसे बाह्यसामग्री कुछ भी सहायता नहीं दे सकती। अहो ! प्रत्येक पर्याय के छहों कारक स्वतंत्र हैं।

* षट्खण्डागम–सिद्धान्त में भी कहा है कि—"सर्वत्र अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।" वहाँ अन्तरंगकारण कहने से पर्याय की योग्यता बतलाना है। भिन्न–भिन्न कर्मों के स्थितिबंध में हीनाधिकता क्यों है ?—ऐसे प्रश्न के उत्तर में सिद्धांतकार कहते हैं कि—प्रकृतिविशेष होने से, अर्थात् उस–उस प्रकृति का वैसा ही विशेषस्वभाव होने से, इस प्रकार हीनाधिक स्थिति-बंध होता है; उसकी योग्यतारूप अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

—(विशेष के लिये देखिये—इस का ही चौथा प्रवचन, नं. ६७)

* (यहाँ समयसार गाथा ३०८ से ३११ में) कहते हैं कि—अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से, स्वद्रव्य में ही कर्ता-कर्म की सिद्धि है; और इसलिये जीव पर का अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकार में पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य को अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तन्मयता होने से पर के साथ उसे कर्ताकर्मपना नहीं है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, "ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है"—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है। ज्ञायकआत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसमें वह तन्मय है, किन्तु रागादि में तन्मय नहीं है, इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है और कर्मों का निमित्तकर्ता भी नहीं है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

(७८) साधक को चारित्र की एक पर्याय में अनेक बोल; उसमें वर्तता हुआ भेदज्ञान; और उसके दृष्टान्त से निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

साधकदशा में ज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि अनंत गुणों की पर्यायें स्वभाव के अवलंबन से निर्मल होती जाती हैं। यद्यपि अभी चारित्रगुण की पर्याय से अमुक रागादि भी होते हैं, परन्तु ज्ञानी को उनमें एकता नहीं है, इसलिये वास्तव में उनके रागादि का कर्तृत्व नहीं है। चारित्र की पर्याय में जो रागादि हैं उन्हें वे आस्रव—बंध का कारण समझते हैं और स्वभाव के अवलम्वन से जो शुद्धता हुई है उसे संवर-निर्जरा मानते हैं;—इस प्रकार आस्रव और संवर को भिन्न-भिन्न जानते हैं।

देखो, ज्ञानी को चारित्र गुण की एक पर्याय में संवर-निर्जरा, आस्रव और बंध—यह चारों प्रकार एकसाथ वर्तते हैं, उनमें समय-भेद नहीं है; एक ही पर्याय में एकसाथ चारों प्रकार वर्तते हैं, तथापि

उनमें जो आस्रव है वह संवर नहीं है, और संवर है वह आस्रव नहीं है। और उनके कर्ता-कर्म आदि छहों कारक स्वतंत्र हैं। जो संवर का कर्तृत्व है वह आस्रव का नहीं है, और जो आस्रव का कर्तृत्व है वह संवर का नहीं है।

आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा—ऐसे चारों प्रकार एकसाथ तो चारित्रगुण की पर्याय में ही होते हैं, और वह साधक के ही होती है।

अहो, एक पर्याय में आस्रव और संवर दोनों एकसाथ वर्ते, तथापि दोनों के छह कारक भिन्न! अभी जो बाह्यकारणों से आस्रव या संवर मानता हो, वह अन्तरंग सूक्ष्म भेदज्ञान की यह बात कहाँ से समझेगा? आस्रव के कारण आस्रव, और संवर के कारण संवर,—दोनों एकसाथ हैं तथापि दोनों के कारण भिन्न हैं। यदि आस्रव के कारण संवर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

—इसी प्रकार, व्यवहार और निश्चय दोनों एकसाथ (साधक को) होते हैं; किन्तु वहाँ व्यवहार के कारण निश्चय माने, अथवा ऐसा माने की व्यवहारसाधन करते करते उससे निश्चय प्रगट हो जायेगा, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे आस्रव और संवर तत्त्व की ख़बर नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय का जो शुभराग है वह तो आस्रव है, और निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है वह संवर-निर्जरा है; आस्रव और संवर दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, दोनों के कारण भिन्न हैं। उसके बदले जिसने व्यवहार के कारण निश्चय होना माना, उसने आस्रव से संवर माना है; आस्रव और संवर तत्त्व को भिन्न न मानकर एक माना, इसलिये उसके तत्त्वार्थश्रद्धान में ही भूल है—वह मिथ्यादृष्टि है।

(७९) क्रमबद्धपर्याय की गहरी बात!

यहाँ तो ज्ञायकदृष्टि की सूक्ष्म बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि

में ज्ञानी निर्मल पर्याय के ही कर्तारूप से परिणमित होता है। अन्य कारकों से निरपेक्ष होकर, अपने-अपने स्वभाव के ही छहों कारकों से श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि अनन्तगुण ज्ञायक के अवलम्बन से निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ज्ञानी के परिणमित हो रहे हैं; इसका नाम अभूतपूर्व धर्म है और यही मुक्ति का मार्ग है। ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन बिना, राग के या व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञायकस्वभाव को, केवलीभगवान को या सात तत्त्वों को नहीं जानता है। निर्मल पर्याय की क्या स्थिति है अर्थात् किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय निर्मल होती है उसे भी वह नहीं जानता, इसलिये वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय नहीं जानता। भाई, यह तो बड़ी गहरी बात है।

(८०) "मोती ढूँढ़नेवाला" (गोताखोर) गहरे पानी में उतरता है; उसी प्रकार जो गहराई तक उतरकर यह बात समझेगा वह निहाल हो जायेगा !

प्रश्नः—गहरे पानी में उतरने में डूब जाने का डर है ?!

उत्तरः—इस पानी में उतरे तो विकार का मैल धुल जाये; इस गहरे पानी में उतरे बिना वस्तु हाथ में नहीं आ सकती। समुद्र में से मोती ढूँढ़ने के लिये भी गहरे पानी में उतरना पड़ता है; किनारे पर खड़े-खड़े हाथ लम्बाये तो मोती हाथ में नहीं आ सकते। उसी प्रकार अंतर के ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की यह बात अन्तर में गहराई तक उतरे बिना समझ में नहीं आ सकती। यह तो अलौकिक बात प्रगट हो गई है; जो समझेगा वह निहाल हो जायेगा।

"सहेजे समुद्र उल्लसियो त्यां मोती तणाया जाय'
भाग्यवान कर वापरे तेनी मूठी मोतीए भराय।"

यहाँ "भाग्यवान" अर्थात् अन्तर के पुरुषार्थवान ! अन्तर्स्वभाव की दृष्टि का प्रयत्न करे उसकी मुट्ठी मोतियों से भर जाये अर्थात् निर्मल-

निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होती जायें; किन्तु जो ऐसा प्रयत्न नहीं करता उसके लिये कहते हैं कि—

"भाग्यहीन कर वांपरे तेनी शंखले मूठी भराय"

समझने का प्रयत्न करके अन्तर में न उतरे और यों ही अकेले शुभभाव में रुका रहे तो उसकी "शंखले से मूठी भराय" यानी पुण्य-बंध हो किन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती—धर्म का लाभ नहीं हो सकता।

(८१) केवलज्ञान की खड़ी

यह तो केवलज्ञान की खड़ी है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले जब पाठशाला में पढ़ने जाते थे तब सब से पहले "सिद्धो वर्ण समाम्नाय"—ऐसा रटाते थे; यानी "वर्णोच्चार का समुदाय स्वयंसिद्ध-अनादि से चला आ रहा है; वही हम सिखलायेंगे"—ऐसा इसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी जो बात कही जा रही है वह अनादि केवलज्ञान से सिद्ध हो गई है। और जो खड़ी सिखाते थे उस में ऐसा भी आता था कि—"कक्का केवली का" उसी प्रकार यहाँ भी यह केवलज्ञान की खड़ी सिखाई जा रही है। इसे समझे बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। "खड़ी" में ही केवलज्ञान की बात करते हुए "ब्रह्मविलास" में कहा है कि—

"कक्का" कहे करन वश कीजे, कनक कामनी दृष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरंजन गहिये, "केवलपद" इहि विधिसों लहिये॥

(८२) क्रमबद्धपर्याय ही वस्तुस्वरूप है

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय वस्तु का स्वरूप है; ज्ञायक का स्वभाव सब व्यवस्थित जानने का है और ज्ञेयों का स्वभाव व्यवस्थित क्रम-बद्ध नियमित पर्याय से परिणमित होने का है। इस प्रकार इसमें यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय आ जाता है; इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूप को नहीं जानता।

कोई ऐसा कहे कि—"निश्चय से तो पर्यायें क्रमबद्ध हैं, किन्तु व्यवहार से अक्रम हैं"—तो वह बात मिथ्या है।

और कोई ऐसा कहे कि—"केवली भगवान के लिये सब क्रमबद्ध है क्योंकि उन्हें तो तीनकाल का पूर्ण ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध है क्यों कि उसे तीनकाल का पूर्ण ज्ञान नहीं है"—तो यह बात भी मिथ्या है। इसकी मान्यता केवली से विपरीत हुई। कहीं केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप हो और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा नहीं है।

(८३) क्रमबद्धपर्याय में निश्चय—व्यवहार की संधि, निमित्त—नैमित्तिक की संधि;—आदि सम्बन्धी आवश्यक स्पष्टीकरण और तत्सम्बन्धी स्वच्छन्दियों की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

और क्रमबद्धपर्याय में ऐसा भी नहीं है कि वस्त्रादि सहित दशा में भी मुनित्व का या केवलज्ञान का क्रम आ जाये! आत्मा में मुनि-दशा का क्रम हो वहाँ शरीर में दिगम्बरदशा ही होती है। वस्त्रों का छोड़ना कहीं जीव का कार्य नहीं है किन्तु उस समय ऐसी ही दशा होती है। मुनिदशा का स्वरूप इससे विपरीत माने तो उसे निश्चयव्यवहार की कोई खबर नहीं है, तथा क्रमबद्धपर्याय के नियम की या देव—गुरु के स्वरूप की खबर नहीं है।

और जहाँ मुनिपना होता है वहाँ, खड़े—खड़े हाथ में ही आहार लेने की क्रिया होती है; पात्रादि में आहार की क्रिया वहाँ नहीं होती; तथापि वहाँ अजीव की (हाथ की या आहार की) वैसी पर्याय जीव ने उत्पन्न की है—ऐसा नहीं है; इसी प्रकार सदोष आहार के त्यागादि में भी समझ लेना चाहिये। उस—उस दशा में ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिकमेल होता है, उसका मेल नहीं टूटता; और जीव ज्ञायक मिटकर अजीव का कर्ता भी नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव का

निर्णय करे तो अजीव के कर्तृत्व का सब भ्रम छूट जाये और मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी न रहे।

ऊपर जैसा मुनिदशा के सम्बन्ध में कहा है वैसी ही समस्त पर्यायों में यथायोग्य समझना चाहिये। जैसेकि—सम्यक्त्वी के मांसादि का आहार होता ही नहीं। यहाँ जीव को सम्यग्दर्शनपर्याय का क्रम हो और सामने मांसादि का आहार भी हो—ऐसा कभी नहीं होता। तिर्यंच—सिंह आदि को जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, तब उनको भी मांसादि का आहार छूट ही जाता है;—ऐसा ही उस भूमिका का स्वरूप है। तथापि पर की क्रिया का उत्पादक आत्मा नहीं है, ज्ञायक तो पर का अकर्ता ही है।

"हम तो सम्यक्त्वी हैं, अथवा हम तो मुनि हैं; फिर बाह्य में भले ही चाहे जैसे आहारादि का योग हो"—ऐसा कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी ही है। किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है, वैसा निमित्त होता है, तथा कैसे निमित्त और कैसा राग छूट जाता है उसकी उसे खबर नहीं है।—ऐसे स्वच्छन्दी जीव को क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; फिर मुनिदशा तो होगी ही कहाँ से ?

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होती जाती हैं और उन-उन पर्यायों में योग्य निमित्त होता है वह भी क्रमबद्ध है; इसलिये "निमित्त जुटाऊँ"—यह बात नहीं रहती। जैसेकि—"मुनिदशा में निमित्तरूप से निर्दोष आहार ही होता है, इसलिये निर्दोष आहार का निमित्त जुटाऊँ तो मेरी मुनिदशा बनी रहेगी"—ऐसा कोई माने उसकी निमित्ताधीन दृष्टि है। स्वभाव में एकाग्रता से मुनिदशा स्थित रहती है उसके बदले संयोग के आधार से मुनिदशा मानता है उसकी दृष्टि ही विपरीत है। निमित्त को जुटाना नहीं पड़ता, किन्तु सहजरूप से उसी प्रकार का निमित्त होता है;

निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध सहज ही बन जाता है।—"अपने को जैसा कार्य करने की इच्छा हो, तदनुसार निमित्त जुटाना चाहिये"—ऐसा माने तो उसे ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा कहाँ रही ? —उसके तो अभी इच्छा का और निमित्त का कर्तृत्व विद्यमान है। अरे भाई ! निमित्तों को जुटाना या दूर करना कहाँ तेरे हाथ की बात है ? निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी क्रमबद्धपर्याय तेरे आधीन नहीं है।

(८४) "ज्ञा....य....क" क्या करता है ?

ज्ञायक क्रमबद्ध अपने ज्ञायकप्रवाह की धारारूप से उत्पन्न होता है; ज्ञायकरूप से उत्पन्न होता हुआ वह किसे लेगा ? किसे छोड़ेगा ? या किसे बदलेगा ? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव का ही कर्ता है, पर का अकर्ता है। यदि दूसरे का कर्ता होने जाये तो यहाँ अपने में ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि नहीं रहती इसलिये मिथ्यादृष्टिपना हो जाता है। ज्ञायक पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है; निश्चय से (तन्मयरूप से) स्वयं ज्ञायक का ज्ञाता है। ज्ञायकसन्मुख एकाग्रता में परज्ञेय का भी ज्ञान हो जाता है, किन्तु पर का उत्पादक नहीं है। इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। सर्वज्ञभगवान स्व–पर के "ज्ञायक" हैं, ज्ञेयों को जैसे का तैसा प्रसिद्ध करते हैं इसलिये "ज्ञापक" भी हैं, और अपने "कारक" भी हैं; किन्तु पर के कारण नहीं हैं। पर के ज्ञायक तो हैं किन्तु कारक नहीं हैं।—इस प्रकार समस्त आत्माओं का ऐसा ज्ञायकस्वभाव है और पर का अकर्तृत्व है।—यह बात यहाँ समझाई है।

(८५) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक चरणानुयोग की विधि

शास्त्रों में चरणानुयोग की विधि का अनेक प्रकार से वर्णन आता है, किन्तु उस सबमें इस ज्ञायकस्वभाव की मूल दृष्टि रख कर समझे तभी समझ में आ सकता है। मुनि–दीक्षा लेने के भाव हों तब माता–पितादि के निकट जाकर इस प्रकार आज्ञा माँगना

चाहिये, उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिये इसका वर्णन प्रवचनसार आदि में अच्छी तरह किया है; और दीक्षा लेनेवाले को भी ऐसा विकल्प आये और माता के निकट जाकर कहे कि—"हे माताजी! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिये! हे इस शरीर की जननी, मेरा अनादिकालीन जनक ऐसा जो आत्मा है उसके निकट जाने की मुझे अनुमति दीजिये। भगवती दीक्षा की अनुमति दीजिये।" तथापि अंतर में उस समय ज्ञान है कि इस वचन का कर्ता मैं नहीं हूँ; मेरे कारण इस वचन का परिणमन नहीं होता।

माता-पितादि की आज्ञा लेकर फिर गुरु के निकट—आचार्य मुनि के पास जाकर विनयपूर्वक कहते हैं कि "हे प्रभो! मुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुग्रहीत कीजिये। हे नाथ! मुझे इस भवबंधन से छुड़ाकर भगवती मुनिदीक्षा दीजिये!"—तब श्रीगुरु भी उसे—"यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि"—ऐसा कहकर दीक्षा देते हैं।—इस प्रकार चरणानुयोग की विधि है; तथापि वहाँ दीक्षा देनेवाले और लेनेवाले दोनों जानते हैं कि हम तो ज्ञायक हैं, इस अचेतन भाषा के हम उत्पादक नहीं हैं; और इस विकल्प के भी वास्तव में हम उत्पादक नहीं हैं; हम तो अपने ज्ञायकभाव के ही उत्पादक हैं; ज्ञायकभाव में ही हमारी तन्मयता है।—ऐसे यथार्थभान के विना कदापि मुनिदशा नहीं होती।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा अंतर्भान, और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति होने पर भी, तीर्थंकर भगवान आदि के विरह में, अथवा पुत्रादि के वियोग में सम्यक्त्वी की आँखों से आँसू बहें, तथापि उस समय उन आँसुओं के वे उत्पादक नहीं हैं, और अंतर में शोक के किंचित् परिणाम हुए उनके भी वास्तव में वे उत्पादक नहीं हैं; उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होते हुए ज्ञाता ही हैं;—हर्ष-शोक के कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। यह अंतर्दृष्टि की अपूर्व बात है। यह

दृष्टि प्रगट किये बिना कभी किसी को धर्म का अंश भी नहीं होता।

(८६) साधकदशा में व्यवहार का यथार्थ ज्ञान

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ज्ञायकजीव व्यवहार को भी यथार्थरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के यथार्थज्ञान में व्यवहार का ज्ञान भी आ जाता है। पंचाध्यायी में निम्न प्रकार व्यवहार के चारों प्रकारों का वर्णन है:—

(१) व्यक्तराग, वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय,

(२) अव्यक्तराग, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय;

(३) ज्ञान पर को जानता है, वहाँ "पर का ज्ञान अथवा राग का ज्ञान" कहना वह सद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है;

(४) ज्ञान सो आत्मा—ऐसा गुण-गुणी भेद वह सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है।

("नय के इन चारों प्रकारों का स्वरूप तथा ज्ञायक के आश्रय से—निश्चय के आश्रय से उन का निषेध" इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेव के विस्तृत प्रवचन के लिये देखिये—आत्मधर्म अंक...६० तथा....६४)

एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए और रागादि से भिन्नता जानी वहाँ साधकदशा में उपरोक्तानुसार जो-जो व्यवहार होते हैं उन्हें ज्ञानी अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाते हैं। यद्यपि दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही पड़ी है, किन्तु पर्याय में व्यवहार है ही नहीं, राग है ही नहीं—ऐसा नहीं मानते; और उस व्यवहार की खतौनी परमार्थ में भी नहीं करते;—अर्थात् उस व्यवहार के अवलम्बन से लाभ नहीं मानते, उसे ज्ञान के ज्ञेयरूप से ज्यों का त्यों जानते हैं। यहाँ ज्ञायकसन्मुख ज्ञान के क्रम में रहकर राग के क्रम को भी यथावत् जानते ही हैं; किन्तु ज्ञायक

को अधिकता में उस राग के भी अकर्ता हैं;—ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि धर्म की मूल नींव है।

(यहाँ क्रमबद्धपर्याय के प्रवचन पूर्ण हुए; इन प्रवचनों के अरसे में तत्सम्बन्धी बहुत कुछ चर्चा हुई थी; वह भी उपयोगी होने से यहाँ दी जा रही है।)

(८७) "केवली के ज्ञान में सब नोट हैं", पर को जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ नहीं है

यह क्रमबद्धपर्याय तो वस्तु का ही स्वरूप है; उसे सिद्ध करने के लिये केवलज्ञान की दलील देकर ऐसा सिद्ध किया जाता है कि—सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में एकसमय में तीनकाल-तीनलोक के स्व-पर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखे हैं; और तदनुसार ही परिणमन होता है।

तब इसके समक्ष कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि—"केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं, और व्यवहार तो अभूतार्थ है—ऐसा शास्त्र में कहा है; इसलिये केवली पर को नहीं जानते।"—ऐसा कहकर वे इस क्रमबद्धपर्याय का विरोध करना चाहते हैं। किन्तु वास्तव में तो वे केवलज्ञान की और शास्त्र के कथन की मज़ाक उड़ाते हैं; शास्त्र की ओट लेकर अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करना चाहते हैं। अरे भाई! केवली को स्व-परप्रकाशक पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो गया है; वह ज्ञान कहीं अभूतार्थ नहीं है। क्या ज्ञान का जो परप्रकाशक सामर्थ्य है वह कहीं अभूतार्थ है?—नहीं। जिस प्रकार समयसार की ७वीं गाथा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के गुणभेद को अभूतार्थ कहा—तो क्या आत्मा में वे गुण हैं ही

नहीं ?—हैं तो अवश्य। उसी प्रकार केवलीभगवान पर को जानें—उसे व्यवहार कहा है; तो क्या पर का ज्ञातृत्व नहीं है ? पर को भी जानते तो हैं ही। केवली पर को जानते ही नहीं—ऐसा नहीं है। केवली को पर का आश्रय नहीं है—पर में तन्मय होकर नहीं जानते—पर संन्मुख होकर नहीं जानते—इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। परप्रकाशकपने का ज्ञान का जो सामर्थ्य है वह कहीं व्यवहार नहीं है; वह तो निश्चय से अपना स्वरूप है। भगवान के केवलज्ञान में त्रिकाल के पदार्थों की नोंध है। पं. राजमलजी समयसार कलश की टीका में कहते हैं कि—संसारी जीवों में एक भव्यराशि है; और एक अभव्यराशि है; उसमें अभव्यराशि जीव तो तीनकाल में मोक्ष प्राप्त नहीं करते; भव्य जीवों में से कुछ जीव मोक्ष जाने योग्य हैं और उनका मोक्ष में पहुँचने का कालपरिमाण है अर्थात् यह जीव इतना कालव्यतीत होनेपर मोक्ष जायेगा—ऐसी केवलज्ञान में नोंध है—"यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै—इसौ न्यौघु केवलज्ञान माँहे छै।" (पृष्ठ १०) केवलीभगवान के ज्ञान में तीनकाल—तीनलोक की सारी नोंध है। जिस जीव को अंतर्स्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ हुआ उसे अल्पकाल में मोक्ष होना है—ऐसा केवलज्ञान की नोंध में आ गया है। जिसके ज्ञान में सर्वज्ञभगवान विद्यमान हो गये उसकी मुक्ति भगवान के ज्ञान में लिखी गई।

प्रश्नः—केवली भगवान को विकल्प तो नहीं है, तव फिर विकल्प के बिना पर को किस प्रकार जानेंगे ?

उत्तरः—पर को जानते हुए केवली को कहीं पर की ओर उपयोग नहीं डालना पड़ता; किन्तु अपना ज्ञानसामर्थ्य ही ऐसा स्व-पर-प्रकाशक विकसित हो गया है कि—स्व-पर सव एकसाथ विकल्प विना—ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। पर को जानना वह कहीं विकल्प नहीं है। (ज्ञान को सविकल्प कहा जाता है उसमें अलग अपेक्षा है।

यहाँ रागरूप विकल्प की बात है।) केवलीभगवान को ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा परिणमित हो रहा है कि राग के विकल्प बिना ही स्व-पर सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

अहो, आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव में से जो केवलज्ञान विकसित हुआ उसका अचिंत्य सामर्थ्य है। वह केवलज्ञान—

अस्पष्ट नहीं जानता।

विकल्प से नहीं जानता।

परसन्मुख होकर नहीं जानता।

तथापि जाने बिना कुछ भी नहीं रहता।

—ऐसा केवलज्ञान है।

ऐसे केवलज्ञान को यथार्थरूप से पहिचाने तो आत्मा के ज्ञायक-स्वभाव की सन्मुखता होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे। प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में आचार्यभगवान ने यही बात अलौकिक रीति से कही है।

(८८) भविष्य की पर्याय होने से पूर्व केवलज्ञान उसे किस प्रकार जानेगा?—उसका स्पष्टीकरण

प्रश्नः—भविष्य की जो पर्यायें नहीं हुई हैं, किन्तु होनेवाली हैं, उन्हें ज्ञान वर्तमान में जान सकता है?

उत्तरः—हाँ, केवलज्ञान एक समय की वर्तमान पर्याय में तीनोंकाल का सब कुछ जान लेता है।

प्रश्नः—तो क्या भविष्य में जो पर्याय होनेवाली है उसे वर्तमान में प्रगटरूप से जानता है?

उत्तरः—भविष्य की पर्याय को पर्यायरूप से जानता है, किन्तु वह पर्याय वर्तमान में प्रगटरूप से वर्तती है—ऐसा नहीं जानता। जानता तो सब वर्तमान में है, किन्तु जैसा हो वैसा जानता है।

भविष्य में जो होना हो उसे वर्तमान में भविष्यरूप से जानता है। स्पष्टरूप से जानता है।

प्रश्नः—ज्ञान में भविष्य की पर्याय को भी जानने की शक्ति है, इसलिये जब वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा,—इस प्रकार है ?

उत्तरः—नहीं, ऐसा नहीं है। भविष्य को भी जानने का कार्य तो वर्तमान में ही है; वह कहीं भविष्य में नहीं है। जैसे कि— अमुक जीव को अमुक समय भविष्य में केवलज्ञान होना है, तो ज्ञान वर्तमान में ऐसा जानता है कि इस जीव के इस समय ऐसी पर्याय होगी; किन्तु ज्ञान कहीं ऐसा नहीं जानता कि इस जीव को इस समय केवलज्ञान पर्याय व्यक्तरूप से वर्तती है ! और भविष्य की वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा—ऐसा भी नहीं है। भविष्य की पर्याय को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान में ही ज्ञान जानता है। जिस प्रकार भूतकाल की पर्याय वर्तमान में वर्तती न होने पर भी वर्तमानज्ञान उसे जानता है, उस प्रकार भविष्य की पर्याय वर्तमान में वर्तती न होने पर भी ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जानता है।

(८९)केवली को क्रमबद्ध, और छद्मस्थ को अक्रम—ऐसा नहीं है

प्रश्नः—"सब त्रमवद्ध है"—यह बात केवलीभगवान के लिये बराबर है। केवलीभगवान ने सब जाना है, इसलिये उनके लिये तो सब क्रमबद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थ को तो पूर्णज्ञान नहीं है, इसलिये उसके लिये सब क्रमबद्ध नहीं है; छद्मस्थ के तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह बराबर है ?

उत्तरः—नहीं; यह बात बराबर नहीं है। वस्तुस्वरूप सब के लिये एक-सा ही है। केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा दो प्रकार का वस्तुस्वरूप नहीं है। केवली के के लिये सब क्रमबद्ध और छद्मस्थ के लिये अक्रमवद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमें उल्टा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवाले को क्रमबद्ध-

पर्याय के स्वरूप की खबर नहीं है। केवलीभगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जानें और छद्मस्थ पूर्ण प्रत्यक्ष न जानें, तथापि वस्तुस्वरूप का (क्रमबद्धपर्याय आदि का) निर्णय तो दोनों को एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय होना जानें, और छद्मस्थ उनका अक्रम से होना माने, तब तो उसके निर्णय में ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायकस्वभाव-सन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानी को तो ज्ञाताभाव का ही परिणमन विकसित होते-होते अनुक्रम से केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु अभी जिसके निर्णय में ही भूल है उसके ज्ञातापने का परिणमन नहीं होता, किन्तु विकार का ही कर्तापना रहता है।

(६०) ज्ञान और ज्ञेय का मेल, तथापि दोनों की स्वतंत्रता

प्रश्नः—केवलीभगवान ने जैसा जाना उसी प्रकार इस जीव को परिणमित होना पड़ता है? या जैसा यह जीव परिणमित हो वैसा केवलीभगवान जानते हैं?

उत्तरः—पहली बात यह है कि केवलज्ञान का निर्णय करनेवाले ने "ज्ञानशक्ति" के अवलम्बन से यह निर्णय किया है इसलिये उसमें निर्मल परिणमन (सम्यग्दर्शनादि) हो गया है और केवलीभगवान ने भी वैसा ही जाना है।

केवलीभगवान का ज्ञान और इस जीव का परिणमन—इन दोनों का ज्ञेय-ज्ञायकपने का मेल होने पर भी कोई किसी के आधीन नहीं है। केवलीभगवान ने तो सर्व पदार्थों की तीनोंकाल की अवस्थायें एक साथ जान ली हैं, और पदार्थ में परिणमन तो एक के बाद एक अवस्था का होता है। केवली ने जाना इसलिये पदार्थ को वैसा परिणमित होना पड़ता है, ऐसा नहीं है; अथवा पदार्थ वैसा परिणमित होता है, इसलिये केवली वैसा जानते हैं—ऐसा भी नहीं

है। ऐसा होने पर भी केवलज्ञान और ज्ञेय की संधि नहीं टूटती; केवलज्ञान ने जाना उससे दूसरे प्रकार से वस्तु परिणमित हो, अथवा तो वस्तु परिणमित हो उससे दूसरे प्रकार से केवलज्ञान जाने, ऐसा कभी नहीं होता।

इसमें, केवलज्ञान की अर्थात् आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की महत्ता समझना चाहिये और ज्ञायकसन्मुख होकर परिणमित होना चाहिये; वही मूलभूत वस्तु है।

(६१) आगम को जानेगा कौन ?

प्रश्नः—यह पर्याय की जैसी बात आप कहते हैं वैसी आगम में नहीं मिलती।

उत्तरः—अरे भाई! अभी तुझे सर्वज्ञ का तो निर्णय नहीं है; तब फिर सर्वज्ञ के निर्णय बिना, "सर्वज्ञ के आगम कैसे होते हैं और उनमें क्या कहा है" उसकी तुझे क्या खबर पड़ेगी? गुरुगम के बिना, अपनी विपरीतदृष्टि से आगम के यथार्थ अर्थ भासित हों ऐसा नहीं है। आगम कहता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उसमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को और सर्वज्ञता को न जाने तो उसने आगम को जाना ही नहीं है। और यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को माने तो क्रमबद्धपर्याय का निर्णय उसमें आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्याय को सीधी रीति से न समझे उसे समझाने के लिये यह केवलज्ञान की दलील दी जाती है; बाकी वस्तु तो स्वयं ही वैसे स्वभाववाली है; क्रमबद्धपर्याय वह वस्तु का ही स्वरूप है, वह कहीं केवलज्ञान के कारण नहीं है।

(६२) केवलज्ञान के और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म क्यों नहीं होता ?

प्रश्नः—आप केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय पर इतना अधिक भार

देते हैं, तो क्या सर्वज्ञ के निर्णय विना या क्रमवद्धपर्याय के निर्णय विना धर्म नहीं हो सकता ?

उत्तरः—नहीं; भाई ! यह केवलज्ञान का या क्रमवद्धपर्याय का निर्णय तो ज्ञानस्वभाव के अवलंबन से होता है, और इसके बिना कभी धर्म नहीं होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो,—इन तीनों में से एक के निर्णय में दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है; और यदि केवलज्ञान को या क्रमवद्धपर्याय को न माने तो वह वास्तव में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानता। यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है; उसके निर्णय बिना धर्म का प्रारम्भ हो ऐसा कभीं नहीं होता। स्वसन्मुख होकर "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसीं ज्ञाताबुद्धि होने से सर्वज्ञता का निर्णय भी हो गया; क्रमवद्धपर्याय का भी निर्णय हो गया, कहीं फेरफार करने की वुद्धि न रही;—इसका नाम धर्म है।

(६३) तिर्यंच–सम्यक्त्वी को भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति

प्रश्नः—तिर्यंच में भी कोई–कोई जीव (मेंढक आदि) सम्यक्त्वी होते हैं तो क्या उन तिर्यंच सम्यक्त्वियों को भी ऐसी क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा होती है ?

उत्तरः—हाँ; "क्र–म–व–द्ध" ऐसे शब्द की भले ही उसे खवर न हो, किन्तु "मैं ज्ञायक हूँ, मेरा आत्मा सब जानने के स्वभाववाला है"—ऐसे अंतर्वेदन में क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति भी उसे आ जाती है; क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति का जो कार्य है वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता है। पर का कर्ता या राग का कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नहीं है; ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमें क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ"—ऐसी प्रतीति हुई है वहाँ क्रमवद्धपर्याय का ज्ञातृत्व ही है।

और देखो, उन मेंढक या चिड़िया आदि तिर्यंचों को सम्यग्दर्शन

होने से स्वसन्मुख होकर संवर–निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है। पर्याय में अभी अल्पता और राग भी है, तथापि उस पर्याय को जानते हुए उन्हें ऐसा विकल्प या संदेह नहीं उठता कि "इस समय ऐसी पर्याय क्यों? और केवलज्ञानपर्याय क्यों नहीं?" ऐसा ही उस पर्याय का क्रम है ऐसा जानते हैं। केवलज्ञान नहीं है इसलिये कहीं सम्यग्दर्शन में शंका नहीं पड़ती। इसी प्रकार उस पर्याय में राग है उसे भी जानते हैं; किन्तु उस राग को जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूप से वेदन नहीं करते, राग से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वयं का अनुभव करते हैं। राग है उतने अंश में उसका वेदन है; किन्तु ज्ञायकदृष्टि में उसका वेदन है ही नहीं। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञान समाधानरूप से वर्तता है; कहीं पर को इधर–उधर करने की मिथ्याबुद्धि नहीं होती, यही क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल है।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव हैं उन सबको अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय में, सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी साथ में आ ही जाती है;—इससे विपरीत माननेवाले को सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्दर्शन कहो, "के...व...ल" ज्ञान (अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्म का प्रारम्भ कहो—वह सब इसमें एकसाथ आ जाता है।

(९४) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल—"अबंधता," "ज्ञायक को बंधन नहीं है"

जीव और अजीव दोनों की क्रमबद्धपर्याय अपने-अपने से स्वतंत्र है; ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपने की क्रमबद्धपर्याय में परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु पर का अकर्ता है। इस प्रकार अकर्तारूप से परिणमित होते हुए ज्ञायक को बंधन होता ही नहीं।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानी को बंधन क्यों होता है? आचार्यदेव कहते हैं कि यह उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है; उसके अज्ञान के कारण ही उसे बंधन होता है। ज्ञायकस्वभाव की महिमा जाने तो बंधन न हो। ज्ञायकस्वभाव की महिमा भूलकर जो पर का कर्ता होता है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट हुई है और इसीसे उसे बंधन होता है।

ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि कर्म के बंधन में निमित्त भी नहीं होता; निमित्तरूप से भी वह मिथ्यात्वादि का अकर्ता ही है।

"अजीव की क्रमबद्धपर्याय भी स्वतंत्र है; इसलिये उसमें जो मिथ्यात्वकर्मरूप से परिणमित होने का उपादान हो तो हमें भी मिथ्यात्वभाव करके उसे निमित्त होना पड़ेगा!"—ऐसी जिसकी दृष्टि है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है अर्थात् वह महान अज्ञानी है। ज्ञायकस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की उसे खबर नहीं है। ज्ञानी ने तो ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है; इसलिये उसकी दृष्टि का परिणमन तो स्वभावोन्मुख हो गया है; कर्म को निमित्त होने पर उसकी दृष्टि नहीं है। मिथ्यात्वादि कर्म उसके बँधता ही नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने में मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता—यह बात पहले की और निमित्तरूप से अजीव में भी उसे मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता।

"जड़ में मिथ्यात्व का क्रम हो तो जीव को मिथ्यात्व करना पड़ता है"—यह दलील तीव्र मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है, वह अजीव को ही देखता है, किन्तु जीव को नहीं देखता, जीव के स्वभाव का निर्णय करके जीव की ओर से न लेकर अजीव की दृष्टि की ओर से लेता है वह विपरीतदृष्टि है—उसके अज्ञान की गह-

नता है। क्रमबद्ध के निर्णय का फल तो स्वोन्मुख होना आता है, स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ उसे मिथ्यात्व नहीं होता और मिथ्यात्वकर्म का निमित्तकर्तापना भी उसके नहीं रहता; अजीव में दर्शनमोह होने का क्रम उसके लिये होता ही नहीं। इस प्रकार कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी उसको छूट गया है।

आत्मा निश्चय से अजीव का कर्ता नहीं है; इसलिये कोई ऐसा कहे कि—"पुद्गल के मिथ्यात्व का निश्चय से अकर्ता, किन्तु उसमें मिथ्यात्वकर्म बंधे तब जीव मिथ्यात्व करके उसका निमित्तकर्ता होता है अर्थात् व्यवहार से उसका कर्ता है।—इस प्रकार निश्चय से अकर्ता और व्यवहार से कर्ता—ऐसा हो तो?"

—तो यह भी मिथ्यादृष्टि की ही बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में कर्म का निमित्तकर्तापना आता ही नहीं। मिथ्यात्वादि कर्मों का व्यवहार कर्तापना मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है, ज्ञानी को वह किसी प्रकार लागू नहीं होता। यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर के स्वयं ज्ञायकभाव से (सम्यग्दर्शनादिरूप से) परिणमित हुआ, वहाँ निश्चित् हो गया कि मेरी पर्याय में मिथ्यात्व होने की योग्यता नहीं है, और मेरे निमित्त से पुद्गल में मिथ्यात्व कर्म हो—ऐसा भी हो ही नहीं सकता—यह भी निर्णय हो गया। अहो! अंतर में ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ....अकर्ता हुआ, वह अब बंधन का कर्ता हो यह कैसे हो सकता है?? नहीं ही हो सकता। ज्ञायकभाव बंधन का कर्ता हो ही नहीं सकता। वह तो निजरस से—ज्ञायकभाव से शुद्धरूप ही परिणमित होता है—बंधन के अकर्तारूप से ही परिणमित होता है। इस प्रकार ज्ञायक को बंधन होता ही नहीं है। ऐसा अबंधपना क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल है। अबंधपना कहो या मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो—उसकी यह रीति है।

(६५) स्वच्छन्दी जीव इस वात के श्रवण का भी पात्र नहीं है

जीव ज्ञायकस्वभाव है; उस ज्ञायक की क्रमबद्धपर्याय में विकार के कर्तृत्व की वात नहीं आती। क्योंकि ज्ञाता के परिणमन में विकार कहाँ से आया? भाई! अपने ज्ञायकत्व का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, तो तुझे क्रमवद्धपर्याय की खवर पड़ेगी। ज्ञाता के क्रम में राग आता ही नहीं; वह ज्ञेयरूप में भले हो। वास्तव में तो राग को ज्ञेय करने की भी मुख्यता नहीं है; अंतर में ज्ञायकस्वभाव को ही ज्ञेय वनाकर उस में अभेद हो—उसीकी मुख्यता है। ज्ञायक-स्वभाव को ज्ञेय वनाये विना, राग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

क्रमवद्धपर्याय का नाम लेकर रागादि का भय न रखें, और स्वच्छन्दरूप से विषय-कषायों में वर्तें—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों की यहाँ वात ही नहीं है; वह तो इस वात के श्रवण का पात्र नहीं है। क्रमवद्ध की ओट लेकर स्वच्छन्दरूप से वर्ते, तो न रहा पाप का भय, और न रहा सत्य के श्रवण का भी प्रेम; इसलिये सत्य के श्रवण की भी योग्यता न हो वहाँ ज्ञान के परिणमन की तो योग्यता ही कहाँ से हो? जो स्वच्छन्द को छुड़ाकर मोक्षमार्ग में ले जाने की वात है, उसी की ओट में जो ढिठाई से स्वच्छन्द की पुष्टि करता है उसे आत्मा की दरकार नहीं है, भवभ्रमण का भय नहीं है।

(६६) सम्यग्दर्शन कव होता है?—तो कहते हैं पुरुषार्थ करे तव

कुछ अज्ञानी इस वात को समझे विना ऐसा कहते हैं कि—हमें तो क्रमवद्धपर्याय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होना होंगीं तो हो जायेंगीं।—किन्तु उनकी वात विपरीत है, वे सिर्फ पर की ओर देख कर क्रमवद्धपर्याय की वात करते हैं, वह ठीक नहीं है। भाई रे, तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करेगा तभी तेरी निर्मल पर्याय होगी। क्रमवद्धपर्याय की समझ का फल तो ज्ञायकस्वभावो-न्मुख होना है; जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ है उसके तो निर्मल पर्याय का क्रम हो ही गया है; और जिसकी उन्मुखता ज्ञायक-

स्वभाव की ओर नहीं है वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को जानता ही नहीं है। अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देते हुए भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जिस निर्मल पर्याय का होना देखा है वही पर्याय आ खड़ी होती है। किसी भी जीव को ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय होती है—ऐसा भगवान ने नहीं देखा है।

"समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हैं इसलिये जैसा क्रम होगा वैसी पर्यायें होती रहेंगीं, अब अपने को पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नही हैं" —ऐसा कोई माने तो उससे कहते हैं कि भाई! ज्ञायक की ओर के पुरुषार्थ के बिना तू क्रमबद्ध का ज्ञाता कैसे हुआ? अपने ज्ञायक-स्वभाव के निर्णय का प्रयत्न किये बिना क्रमबद्धपर्याय को तू किस प्रकार समझा? स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे उसीको क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है और उसकी पर्याय में निर्मलता का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, स्वसन्मुख पुरुषार्थ और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की सन्धि है।

(६७) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तृत्व

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय है उसमें कर्तृत्व है या नहीं?

उत्तरः—हाँ; जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय का कर्तृत्व है; और जिसके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है तथा पर में कर्तृत्वबुद्धि है उसे अपने में मिथ्यात्व आदि मलिन भावों का, कर्तृत्व है।

अजीव को उस अजीव की क्रमबद्धअवस्था का कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर के जो जीव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है उसे विकार का कर्तृत्व नहीं है; वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

(६८) सूक्ष्म—किन्तु समझ में आ जाये ऐसा

प्रश्नः—आप कहते हैं वह बात तो बहुत सरल है, किन्तु बड़ी

सूक्ष्म बात है !

उत्तरः—भाई ! सूक्ष्म तो अवश्य है, किन्तु समझ में आ सके ऐसा सूक्ष्म है या न आये ऐसा ? आत्मा का स्वभाव ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। यह सूक्ष्म होने पर भी समझ में आ सके ऐसा है। आत्मा की सचमुच जिज्ञासा हो तो वह समझ में आये बिना नहीं रह सकता। वस्तुस्वरूप में जैसा हो रहा है वही समझने को कहा जा रहा है; इसलिये सूक्ष्म लगे, तो भी "समझ में आये ऐसा है; और यह समझने में ही मेरा हित है"—ऐसा विश्वास और उल्लास लाकर अन्तर में प्रयास करना चाहिये। यह समझे बिना ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता, और सच्चे ज्ञान बिना शांति नहीं हो सकती। "सूक्ष्म है इसलिये मेरी समझ में नहीं आ सकता"—ऐसा नहीं मानना चाहिये, किन्तु सूक्ष्म है इसलिये उसे समझने के लिये मुझे अपूर्व प्रयत्न करना चाहिये—ऐसा बहुमान लाकर समझना चाहे तो यह अवश्य ही समझ में आ सकता है।

अहो! यह तो अंतर की अध्यात्मविद्या है; इस अध्यात्मविद्या से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किए बिना, अन्य सब बाह्य ज्ञातृत्व तो म्लेच्छविद्या समान हैं; उससे आत्मा का कुछ भी हित नहीं है।

पूर्व अनन्तकाल में यह बात नहीं समझा इसलिये सूक्ष्म है; तथापि जिज्ञासु होकर समझना चाहे तो समझ में आ सकती है। भाई! तू उलझन में मत पड़, किन्तु अन्तर में देख; उलझन कोई मार्ग नहीं है; ज्ञानस्वभाव को लक्ष में पकड़कर अन्तर्मुख हो.... वर्तमान में जो ज्ञान जानने का कार्य कर रहा है वह किसका है ? उस ज्ञान के सहारे-सहारे अन्तर में जा और अव्यक्त चिदानन्द-स्वभाव को ग्रहण कर ले....अन्तर के चैतन्यद्वार को खोल। इस

चैतन्यस्वभाव में उतरते ही सब समझ में आ जाता है, और उलझन मिट जाती है।

(९९) सच्चा विश्रामस्थल

प्रश्नः—क्रमबद्धपर्याय प्रतिसमय सदैव होती ही रहती है; उसमें बीच में कहीं जरा भी विश्राम नहीं है?

उत्तरः—भाई, यह समझ तो तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण की थकान दूर कर दे ऐसी है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभाव की ओर एकाग्र हुआ वही सच्चा विश्रामस्थल है।—उसमें भी प्रतिसमय पर्याय का परिणमन तो होता ही रहता है; किन्तु वह परिणमन ज्ञान और आनन्दमय है, इसलिये उसमें आकुलता या थकान नहीं है; उसमें तो परम अनाकुलता है और वही सच्चा विश्रामस्थल है। अज्ञानी जीव ज्ञायकपने को भूलकर "पर में यह करूँ...यह...करूँ"—ऐसी मिथ्यामान्यता से आकुल-व्याकुल—दुःखी हो रहा है और भवभ्रमण में भटक रहा है। यदि यह ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की बात समझे तो अनन्ती आकुलता मिट जाये, अन्तर्स्वभाव में ज्ञान-आनन्द के अनुभवरूप सच्चा विश्रामस्थल प्राप्त हो।

(१००) सम्यक्त्वी कहते हैं—"श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है"

इस क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ निर्णय में ज्ञानस्वभाव का और केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। जिस प्रकार केवलीभगवान परिपूर्ण ज्ञायक ही हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है—ऐसा निर्णय होने पर श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ। अभी साधकदशा में अल्पज्ञान है, तथापि वह भी ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञातापने का ही कार्य करता है, इसलिये केवलज्ञान की श्रद्धा तो हो गई, अर्थात् श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—"यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिनके वचन के

विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है,

—ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है,

—वह सर्व अव्यावाध सुख का प्रगट करनेवाला केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!"

देखो, इतने-से कथन में कितनी गंभीरता है!

सर्व प्रथम ऐसा कहा कि—"यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगटरूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है"—इस कथन में यह बात भी गर्भित रूप से रखी है कि—वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु शक्तिरूप से है; और वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु भविष्य में अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होना है।"

* फिर कहा है कि—"जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है।"—केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि वह प्रगट होने का सामर्थ्य मुझमें है—ऐसा जाना है—स्पष्ट जाना है, अर्थात् स्वसन्मुख होकर निःशंक जाना है। किसने जाना?—तो कहते हैं कि वर्तमान पर्याय ने जाना है। मुझमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है ऐसा पहले नहीं जाना था, और अब स्वसन्मुख होकर जाना इसलिये पर्याय में निर्मलता का क्रम प्रारंभ हो गया।

मेरी शक्ति में केवलज्ञान है—ऐसा "स्पष्ट" जाना है अर्थात् राग के अवलम्बन बिना जाना है;—स्वभाव के अवलम्बन से जाना है; स्वसंवेदन से जाना है।

* जानने में निमित्त कौन? तो कहते हैं कि—"जिन के वचन के विचारयोग से...जाना है;" जिन के वचन अर्थात् केवलीभगवान, गणधरदेव, कुन्दकुन्दाचार्य आदि संत-मुनि और सम्यक्त्वी—इन सबके वचन उसमें आ जाते हैं। अज्ञानी की वाणी उसमें निमित्त नहीं होती; सम्यक्त्वी से लेकर केवलीभगवान तक के सबकी वाणी अविरुद्ध है; जैसी केवलीभगवान की वाणी है वैसी ही सम्यक्त्वी की वाणी है; भले ही केवलीभगवान की वाणी में बहुत आए और सम्यक्त्वी की वाणी में कम आए, किन्तु दोनों का अभिप्राय तो एक ही है।

और, "जिन के वचन के विचारयोग से जाना"—इसमें "विचार-योग" वह अपने उपादान की तैयारी बतलाता है। ज्ञानी के वचन वह निमित्त, और उन वचनों को झेलकर समझने की योग्यता अपनी,—इस प्रकार उपादान-निमित्त दोनों की बात आ गई है।

वर्तमानपर्याय में केवलज्ञान न होने पर भी, तेरे स्वभाव में केवल-ज्ञान का सामर्थ्य है—ऐसा ज्ञानी के वचन बतलाते हैं; इसलिये तुझमें जो शक्ति विद्यमान है उसके अवलम्बन से तेरा केवलज्ञान प्रगट होगा, अन्य किसीके (निमित्त के व्यवहार के) अवलम्बन से केवलज्ञान नहीं होगा;—ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं, इससे विरुद्ध जो कहते हों वे वचन ज्ञानी के नहीं हैं।

* "यद्यपि वर्तमान में कभी प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिन के वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवल-ज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है"—ऐसा जानने में क्या हुआ वह अब कहते हैं:—

—"ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है;

केवलज्ञान प्रगट नहीं है, तथापि उसकी श्रद्धा तो प्रगट हुई है, इसलिये श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है। देखो, अज्ञानी तो कहते हैं कि—"भव्य-अभव्य का निर्णय अपने से नहीं हो सकता, वह केवली

जानें," तब यहाँ तो कहते हैं कि केवलज्ञान का निर्णय हो गया है, श्रद्धा में केवलज्ञान हो गया है। जिसमें से केवलज्ञान प्रगट होना है—ऐसा अखंड ज्ञायकस्वभाव जहाँ प्रतीति में आ गया वहाँ श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

*"श्रद्धा" की बात की, अब ज्ञान—चारित्र की बात करते हैं।

—"विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,"

—"इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,"

विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है इसलिये केवलज्ञान कैसा होता है वह ज्ञान में आ गया है—सर्वज्ञता का निर्णय हो गया है। तथा इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है अर्थात् भावना केवलज्ञान की ही वर्त रही है, राग की या व्यवहार की भावना नहीं है; किन्तु केवलज्ञान की ही भावना है।

* इतनी बात तो केवलज्ञान पर्याय की कही, किन्तु केवलज्ञान प्रगट कहाँ से होगा—वह बात भी साथ में बतलाते हैं।

"मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है"

निश्चयनय अर्थात् मुख्यनय। अध्यात्म में मुख्यनय तो निश्चयनय ही है। उस निश्चय में वर्तमान में ही शक्तिरूप से केवलज्ञान वर्त रहा है।

शक्तिरूप से केवलज्ञान तो सभी जीवों के है, किन्तु ऐसा कहता कौन है?—कि जिसे उस शक्ति की प्रतीति हुई है वह। इसलिये श्रद्धा तो प्रगट हुई है।

—इस प्रकार इसमें जैनशासन भर दिया है। शक्ति क्या है, व्यक्ति क्या है, शक्ति की प्रतीति क्या है, केवलज्ञान क्या है,—यह सब इसमें आ जाता है।

* अहो, सम्यग्दर्शन होने पर सम्यक्त्वी कहता है कि—"श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ," यहाँ ज्ञायकोन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय

किया उसमें भी श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ....प्रतीति तो वर्तमान में प्रगट हुई है। जिस प्रकार केवलीभगवान ज्ञायकत्व का ही काम करते हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक है, मेरा ज्ञान भी ज्ञायकोन्मुख रहकर ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है— ऐसी सम्यक्त्वी को प्रतीति हुई है—इस प्रकार श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।

* सर्वज्ञस्वभाव के अवलम्बन से ऐसी श्रद्धा होने पर जीव केवलज्ञान प्राप्त करने योग्य हुआ। उसके उल्लास में भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए कहते हैं कि अहो! सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला ऐसा केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करने योग्य हुआ उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो......नमस्कार हो...!

(१०१) "केवलज्ञान की खड़ी" के तेरह प्रवचन....और केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक उनका अंतमंगल

—इस क्रमबद्धपर्याय पर पहलीबार के "आठ" और दूसरीबार के "पाँच"—इस प्रकार कुल तेरह प्रवचन हुए। तेरहवाँ गुणस्थान केवलज्ञान का है और ज्ञायकोन्मुख होकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना वह "केवलज्ञान की खड़ी" है; उसका फल केवलज्ञान है। जो इसका निर्णय करे उसे क्रमबद्धपर्याय में अल्पकाल में केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा। इस क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाला "केवलीभगवान का पुत्र" हुआ, प्रतीतिरूप से केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसे अब विशेष भव नहीं हो सकते। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और फिर निर्मल निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होने पर अनुक्रम से चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

—इसप्रकार केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक रहस्य प्रगट करनेवाला यह विषय पूर्ण होता है।

"केवलज्ञान" के साथ क्रमबद्धपर्याय की

संधि करानेवाले यह तेरह प्रवचन

जयवंत प्रवर्तमान हों......

ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक

रहस्य समझाकर,

केवलज्ञान को प्रकाशित करनेवाले

श्री कहान गुरुदेव की जय हो....

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में आ जानेवाला अनेकान्तवाद

वस्तु में तीनोंकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध ही होती हैं; कोई अवस्था उलटी-सीधी नहीं होती— ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। वस्तु-स्वभाव के इस महान सिद्धान्त का रहस्य न समझनेवाले अज्ञानी लोग, उस पर मिथ्या नियतवाद अथवा एकान्तवाद होने का आरोप करते हैं; यहाँ उसका निराकरण किया जाता है।

नियत के साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धादि धर्म भी विद्यमान ही हैं। नियतस्वभाव के निर्णय के साथ विद्यमान सम्यक् पुरुषार्थ को, सम्यक् श्रद्धा को, सम्यक् ज्ञान को, स्वभाव को—आदि को स्वीकार न करे तभी एकान्त नियतवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो, नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में आ जानेवाला ज्ञान का पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय का पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धाज्ञानादि को स्वीकार किये बिना ही नियत की (—जैसा होना होगा सो होगा—ऐसी) बात करते हैं, इसलिये उसे तो एकांत नियत कहा जाता है।

परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय में साथ ही विद्य-मान ऐसे सम्यक् पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान—श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त को—सभी को स्वीकार करते हैं; इसलिये वह मिथ्यानियत नहीं है परन्तु सम्यक् नियतवाद है, उसीमें अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियत को और उसके साथ दूसरे अनियत को–(पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्तादि को) भी ज्ञानी स्वीकार करते हैं, इसलिये उनके नियत–अनियत का मेल हुआ। [यहाँ 'अनियत' का अर्थ 'अक्रमबद्ध' नहीं समझना, परन्तु नियत के साथ विद्यमान नियत

के अतिरिक्त पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना।] इस प्रकार वस्तु में 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय एक साथ हैं इसलिये अनेकान्त स्वभाव है, और उसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आदि का क्रम भी साथ ही है, इसलिये क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायों से दूर नहीं रह जाता; इसलिये नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता परन्तु साथ ही आ जाता है। इसलिये नियत स्वभाव की श्रद्धा वह अनेकान्तवाद है—ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों का नियत-क्रमबद्ध होना न माने, अथवा तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में विद्यमान सम्यक्-पुरुषार्थ को न माने उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—श्री समयसार कलश २ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से।

* अनेकान्त *

[प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त 'अपने से पूर्ण' और 'पर से पृथक्' घोषित करता है]

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूप से निश्चित् होती है। एक वस्तु में वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप है; ऐसे अस्ति-नास्ति-रूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निश्चित् होता है। इसी न्याय से, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय, इस प्रत्येक बोल का स्वरूप भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्न-नुसार निश्चित् होता है:—

निमित्त संबन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त यह दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं; दोनों पदार्थ अपने अपने स्वरूप से अस्तिरूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्तिरूप हैं; इस प्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं है; निमित्त निमित्तरूप से है और उपादानरूप से वह नास्तिरूप है। इसलिये उपादान में निमित्त का अभाव है, इससे उपादान में निमित्त कुछ नहीं कर सकता। निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नहीं करता—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्तस्व-रूप से निमित्त को जाने तभी निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है। 'निमित्त निमित्त का कार्य भी करता है और निमित्त उपादान का कार्य भी करता है'—ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूप से अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है; ऐसा होने से निमित्त पदार्थ में अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए, इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिये

'निमित्त उपादान का कुछ करता है'—ऐसा जिसने माना उसने अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नहीं जाना किन्तु अपनी मिथ्याकल्पना से एकान्त मान लिया है; उसने उपादान —निमित्त की भिन्नता, स्वतंत्रता नहीं मानी किन्तु उन दोनों की एकता मानी है इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान संबंधी अनेकान्त

उपादान स्व–रूप से है और पररूप से नहीं है; इस प्रकार उपादान का अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्तस्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की अस्ति है और उपादान के कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है।—ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है, तो उपादान में निमित्त क्या करे? कुछ भी नहीं कर सकता। जो ऐसा जानता है उसने उपादान को अनेकांत-स्वरूप से जाना है; किन्तु 'उपादान में निमित्त कुछ भी करता है' —ऐसा जो माने उसने उपादान के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है किन्तु एकान्तस्वरूप से माना है; इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है। निश्चय–व्यवहार भी मिथ्या है।

निश्चय और व्यवहार संबंधी अनेकान्त

उपादान–निमित्त की भाँति निश्चय और व्यवहार का भी अनेकान्त-स्वरूप है। निश्चय है वह निश्चयरूप से अस्तिरूप है और व्यवहार-रूप से नास्तिरूप है; व्यवहार है वह व्यवहाररूप से अस्तिरूप है और निश्चयरूप से नास्तिरूप है। इस प्रकार कथंचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने से वह अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक दूसरे में अभाव है, परस्पर लक्षण भी विरुद्ध है—ऐसा अनेकान्त बतलाता है, तब फिर व्यवहार निश्चय में क्या करेगा?

व्यवहार व्यवहार का कार्य करता है और निश्चय का कार्य नहीं करता, अर्थात् व्यवहार बन्धन का कार्य करता है और अबंध-पने का कार्य नहीं करता—ऐसा व्यवहार का अनेकान्तस्वभाव है।

इसके बदले व्यवहार व्यवहार का भी कार्य करता है और व्यवहार निश्चय का कार्य भी करता है—ऐसा जो मानता है उसने व्यवहार के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है किन्तु व्यवहार को एकान्तरूप से माना है। वह व्यवहाराभासमात्र का धारक मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार करते करते निश्चय होता है अर्थात् व्यवहार निश्चय का कारण होता है—ऐसा माना उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नहीं जाना किन्तु दोनों को एक ही माना है, इसलिये वह भी एकान्त मान्यता हुई।

द्रव्य और पर्याय संबन्धी अनेकान्त

द्रव्य–पर्याय संबन्धी अनेकान्तस्वरूप इस प्रकार है: द्रव्य द्रव्यरूप से है और सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायरूप नहीं है। पर्याय पर्यायरूप है और एक पर्याय संपूर्ण द्रव्यरूप नहीं है। उसमें द्रव्य के आश्रय से धर्म नहीं होता है, पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं होता। पर्यायबुद्धि से धर्म होता है–ऐसा मानना वह एकान्त है। स्व-द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है उसके बदले अंश के–पर्याय के आश्रय से जिसने धर्म माना उसकी मान्यता में पर्याय ने ही द्रव्य का काम किया अर्थात् पर्याय ही द्रव्य हो गई; उसकी मान्यता में द्रव्य–पर्याय का अनेकान्त-स्वरूप नहीं आया है। द्रव्यदृष्टि से (द्रव्य के आश्रय से) ही धर्म होता है और पर्यायबुद्धि से धर्म नहीं होता—ऐसा मानना सो अनेकान्त है।

इस प्रकार एकान्त–अनेकान्त का स्वरूप समझना चाहिए।

जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप समझे वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्याय का आश्रय छोड़कर अपने द्रव्यस्वभाव की ओर ढले बिना नहीं रहता; अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उसे सम्यग्दर्शन –ज्ञानादि धर्म होते हैं। इस प्रकार अनेकान्त की पहिचान से धर्म का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्तस्वरूप न जाने वह कभी पर का आश्रय छोड़कर अपने स्वभाव की ओर नहीं ढलेगा और न उसे धर्म होगा।

अनेकान्त का प्रयोजन

'हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा में कोई कल्याण नहीं है। यह कहीं ऐकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है ऐसा विचार छोड़कर उन वचनों से जो भी अन्तर्मुख वृत्ति होने की प्रेरणा मिले उसे करने का विचार रखना सो सुविचार दृष्टि है।....बाह्य क्रिया के अंतर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है।....अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक् एकान्त-निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है; यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पाबुद्धि से, निराग्रह से, निष्कपट भाव से, निर्दम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है ; यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा।...."

(श्रीमद् राजचन्द्र, गु. पृष्ठ ३४६-४७)

卐

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र हैं

श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार (-अर्थात् अध्यात्मतरंगिणी) के नववें अधिकार की ४६ वीं गाथा में (पृष्ठ १८६) कहा है कि—

न कर्म हंति जीवस्य न जीवः कर्मणो गुणान् ।
वध्य घातक भावोऽस्ति नान्योन्यं जीव कर्मणोः ॥ ४६ ॥

अर्थ—न तो कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणों को नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्म का आपस में वध्य घातक संबंध नहीं ।

भावार्थ—"वध्य घातक भाव' नामक विरोध में वध्य का अर्थ मरनेवाला और घात का अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहि-नकुल, अग्नि-जल आदि में देखने में आता है अर्थात् नोला सर्प को मार देता है इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल अग्नि को बुझा देता है इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है; यहाँ पर जीव और कर्मों में यह विरोध देखने में नहीं आता क्योंकि यदि कर्म जीव के गुणों को नष्ट करता अथवा जीव कर्म के गुणों को नष्ट करता तब तो जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध होता। सो तो है नहीं, इसलिये जीव और कर्म में वध्य घातक भाव नामक विरोध नहीं हो सकता।

अनन्त पुरुषार्थ

> स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं किन्तु सम्यक् —पुरुषार्थवाद है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२-३२३ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

['वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती' इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित विषयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है :—

१— पुरुषार्थ, २— सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना, ३- सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४- द्रव्यदृष्टि, ५- जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्ध-पर्याय, ६- उपादान निमित्त, ७—सम्यग्दर्शन, ८- कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १० - साधकदशा, ११- कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२ - मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि, १३ - सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, १४- अनेकान्त और एकान्त, १५- पाँच समवाय, १६ - अस्ति-नास्ति, १७ - नैमित्तिक संबंध, १८ - निश्चय-व्यवहार, १९ - आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २० - निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के बिना कार्य होता है। इसमें अनेक पहलुओं से —प्रकारान्तर से बारंबार स्वतंत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान करके उस ओर उन्मुख हों यही भावना है।]

स्वामी कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते हैं, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ वर्णित किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं :—

जं जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मिदेसे तेणविहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ :— जिस जीव को जिस देश में, जिस काल में, जिस विधि से जन्म–मरण, सुख–दुःख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञ-देव ने जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देश में, उसी काल में और उसी विधि से नियम पूर्वक सब होता है, उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ :— सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है; उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता, इस प्रकार सम्यक्दृष्टि विचार करता है। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ट १२५)

इस गाथा में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि को धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चितवन करता है यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दुःख में धीरज दिलाने के लिये अथवा झूठा आश्वासन देने के लिये नहीं है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वयं चितवन करता है; वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, वह कोई कल्पना नहीं है। यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञभगवान ने देखी है उस काल में वही अवस्था होती है दूसरी नहीं होती' इसमें एकान्तवाद या नियतवाद नहीं है किन्तु इसीमें सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

आत्मा सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है; उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय समय पर विशेष में शुद्धता होती है, और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि, देहादि हैं वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; और यदि विकार की—पर की रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है; चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता उस तरफ की क्रमबद्ध दशा होती है, जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है; अर्थात् सर्वज्ञभगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न—जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि सभी में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था श्री सर्वज्ञदेव ने देखी है उसीके अनुसार अनादि अनन्त समयबद्ध होती है तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही?

उत्तर— मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुषार्थ किया जाता है तब ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है, मैं पर में क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है मैं वैसा ही जानता

हूं; ऐसे निर्णय में पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानना नहीं रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबंधी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर अपने ज्ञाता स्वभाव की अनन्त दृढ़ता हो गई। ऐसा अपनी ओर का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में हुआ है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूं किन्तु मैं किसी का कुछ नहीं करता ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके पर से पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है वही होती है, ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमें पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते हैं।

१—पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नहीं करता यह निश्चय किया कि सभी पर द्रव्यों का अभिमान दूर हो जाता है।

२—विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुबंधी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के लक्ष से हटकर स्वयं रागद्वेष रहित अपने ज्ञातास्वभाव में आ गया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनोंकाल की क्रमबद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूं, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है, अवस्था में जो राग–द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है; उस दुर्बलता को भी देखना नहीं

रहा किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्पकाल में टूट जायगी।

क्रमवद्धपर्याय द्रव्य में से आती है, पर पदार्थ में से नहीं आती, तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिये अपनी पर्याय के लिये पर द्रव्य की ओर अथवा पर्याय को नहीं देखना रहा किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूप को ही देखना रहा। जिसकी ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमवद्धपर्याय का निर्णय किया है।

प्रश्न—सर्वज्ञभगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा की रुचि होती है न?

उत्तर—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञभगवान सब कुछ जानते हैं? जिसने सर्वज्ञभगवान की ज्ञानशक्ति को अपनी पर्याय में निश्चित् किया है उसकी पर्याय संसार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है; तभी तो वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गई है उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो! केवलीभगवान तीनकाल और तीनलोक के ज्ञाता हैं; वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते,' उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में मान लिया और उसकी तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनंत पुरुषार्थ क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा एकान्त नियतवाद नहीं है किन्तु पाँचों समवाय सहित सम्यक् पुरुषार्थवाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के वाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है; किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और

न मेरी अवस्था को कोई अन्य करता है। किसी निमित्तकारण से रागद्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जाननेवाली मात्र स्वसन्मुख ज्ञान की अवस्था रह जाती है, वह अवस्था ज्ञाता-स्वरूप को जानती है, राग को जानती है और सभी पर को भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञान का ज्ञेय है किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नहीं है—ऐसी श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझने के लिये ही आचार्यदेव ने यहाँ पर दो गाथायें देकर वस्तु स्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ इससे पूर्व अपने केवल-ज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता के होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चिंतवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्ध पर्याय की जो योग्यता हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कहीं अटक जायगी सो बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित न होगा तो यह कैसे होगा, उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने क्रम से जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप परमाणु की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणु की काली दशा है। परमाणु में जिस समय काली अवस्था होनी होती है उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वयं होती है; और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती है। परमाणु को काली दशा के क्रम को बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है। धूप में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पड़ती है वह हाथ के कारण

नहीं होती, किन्तु वहाँ के परमाणु की ही उस उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दो पहर को ३ बजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओं की ३ बजे होनेवाली दशा अटक जायगी ? नहीं ! ऐसा बनता ही नहीं। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त स्वयं उपस्थित होते ही हैं; सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलंब से आने के कारण वह अवस्था विलंब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा; किन्तु यह असंभव है। जिस समय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है उस समय निमित्त उपस्थित न हो, यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पर पुद्गल का दृष्टांत दिया गया है इसी प्रकार अब जीव का दृष्टांत देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायगा ऐसी मान्यता बिलकुल असत्य पराधीन दृष्टि की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभ-नाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणमित होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्त-रूप उपस्थित होती है, निमित्त बाद में आता हो सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है; ऐसा होने पर भी निमित्त–उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता, असर, प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो; और निमित्त से कार्य हो ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में उसकी अपनी जो

क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीनदृष्टि का विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है, मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं होती इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु को स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं है; ज्ञानी को वस्तुस्वरूप में शंका नहीं होती। वह जानता है कि जिस काल में जिस वस्तु की जो पर्याय होती हैं वह उस की क्रमबद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ; इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्वस्वभाव की प्रतीति है। इसलिये सर्वज्ञभगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक हो हूँ; अपने ज्ञायकस्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा।

ऐसी भावना केवलीभगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है; इसमें यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है यह कोई मिथ्या कल्पना या दुःख के आश्वासन के लिये नहीं है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प राग-द्वेष होता है—उस समय संपूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है इसका वे इस तरह चिंतवन करते हैं।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञान में ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं, देखिये इस में सम्यग्दृष्टि की भावना कि निःशंकता का कितना बल है। 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ

नहीं हैं' यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशंकता ही है। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है।

जिस क्षेत्र में जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दुःख का संयोग इत्यादि जिस विधि से होना है उसमें किंचित् मात्र भी अंतर नहीं आ सकता। सांप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि जो संयोग होना है उसे बदलने में कोई भी तीनकाल और तीनलोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इसमें महानतम सिद्धांत निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावना का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्तमुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तु-स्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचंद्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय को'। इन महा सन्तमुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवों के लिये यही नियम है कि जिस जीव को जिस काल में जीवन, मरण इत्यादि का कोई भी संयोग, सुख दुःख का निमित्त आने वाला है उसमें परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र, नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं है। यह सम्यग्दृष्टि जीव के यथार्थज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है किन्तु किसी संयोग के भय से आड़ लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाय सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख दुःख के संयोग की बात की गई है। संयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभभाव होता है वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है, वहाँ सम्यग्-दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व–लक्ष से जानता है, वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है; किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही संयोग वियोग क्रमशः होता है मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर-संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है इसलिये वह संयोग को बदलना चाहता है, उसे वीतरागशासन के प्रति श्रद्धा नहीं है। उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है, क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है उसीके अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध में थोड़ा–सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतरागशासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न–जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज–कण मिलेंगे, उसमें एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्र का परि-वर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। जीवन, मरण, सुख, दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की सावधानी रखनेपर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता; उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी

वदलने में समर्थ नहीं हैं। इसमें नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायकपने का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञभगवान ने देखा है वैसा ही होता है; इसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता' ऐसी दृढ़ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह वात नहीं जमती। पर में कुछ नहीं देखना है किन्तु निज में ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है; किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इसमें मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुपार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमवद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त पर द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व-द्रव्य में ही देखना होता है और उसीमें सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञभगवान के ज्ञान का अवलंवन करनेवाले हैं; यह भाव तीनकाल और तीनलोक में वदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव वदले, जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत जगत ही है; यदि जगत के जीवों के यह वात नहीं वैठती तो इससे क्या? जो वस्तु–स्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है वह कभी नहीं वदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग में मैं परिवर्तन कर सकता हूँ ऐसा माननेवाला सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है, और इसलिये वह प्रगटरूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है।

अहो! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है। चाहे कर्म खाने का

भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो परमाणु आना हैं उतने और वे ही परमाणु आयेंगे, उनमें से एक भी परमाणु को बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। बस, ऐसा जान कर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होनी चाहिये। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। जो जीव पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो, पर में सुख-बुद्धि हो और कहे कि जो होना है सो होगा, यह तो शुष्कता है; यह बात ऐसी नहीं है। जब अनन्त पर द्रव्यों से प्रथक् होकर जब जीव मात्र स्वभाव में संतोष मानता है तब यह बात यथार्थ बैठती है, इसकी स्वीकृति में तो सभी पर पदार्थों से हटकर ज्ञान, ज्ञान में ही लगता है, अर्थात् मात्र वीतरागभाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र, देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीनलोक में एक परमाणु को भी बदलने में समर्थ नहीं हैं। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञान की दृढ़ता के बल से राग का नाश करके अल्प काल में ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योंकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; इसलिये 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, पर पदार्थों की क्रिया स्वतंत्र होती है उसका मैं करता नहीं हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एक मात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानता है और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु में होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल—संबन्ध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न

माने और कर्ता कर्म का किञ्चितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनके किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या रागद्वेषभाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ; मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नहीं होता, यदि अस्थिरता सें राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्धदशा होती है वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में समस्त पदार्थों के नियति (क्रमवद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जव कि समस्त पदार्थों की क्रमवद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ? मैं किसीकी अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नहीं हूँ, मेरी क्रमवद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिये मैं अपने द्रव्यस्वभाव में एकाग्र रह कर सव का ज्ञाता ही हूँ—ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जव कि सभी क्रमवद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर—सव कुछ क्रमवद्ध है, इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुपार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सव कुछ मात्र जानते ही हैं किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, तव क्या इससे भगवान का पुरुपार्थ परिमित हो गया? नहीं, नहीं, भगवान का अनंत अपरिमित पुरुपार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरुषार्थ निज में है, पर में नहीं। पुरुपार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है इसलिये उसका

कार्य जीव की पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानना है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी हैं; उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निज दृष्टि से देखनेवाला ही रहा; ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चिंतवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता,' इस प्रकार जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं। हे भाई! तू किसके ज्ञान से बात करता है? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान से? यदि तू अपने ज्ञान से ही बात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यों की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान में स्वद्रव्य का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है।

तूने अपने तर्क में कहा है कि 'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र बात करने के लिये कहा है—अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर

और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञभगवान के केवलज्ञान के निर्णयवाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्तवीर्य कार्य करता है तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है तथापि यदि उसे स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की और भव की शंका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नहीं सकता।

अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया उस ज्ञानने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के ? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभाव में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शंका दूर हो गई है और एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार 'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा ही होता है,' ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है,

अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमवद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमवद्ध-पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं, द्रव्य में रागद्वेष नहीं है, कोई परद्रव्य मुझे रागद्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी नवलाई का कारण है; वह नबलाई भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसा होने से उस जीव को पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्य-दृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। बस, इसीका नाम क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा है, इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञदशा है।

द्रव्य में समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है; इस में केवलज्ञान भरा हुआ है। जैन के अतिरिक्त सामान्य—विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते। सामान्य में से विशेष होता है इतना सिद्धांत निश्चित् करने पर वह परिणमन निज की ओर ढ़ल जाता है। पर से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में से भी मेरी पर्याय नहीं होती। इस प्रकार सब से लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है

कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर निज में स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यों का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर में से आई है और न विकल्प में से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है अतः वह कहीं भी न रुककर अल्प काल में ही संपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नहीं मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है।

२—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहाँ रही? निमित्त पर का कुछ भी नहीं करता तथापि जो यह मानना है कि मेरे निमित्त से पर में कोई परिवर्तन होता है वह सच्चे न्याय को नहीं मानता।

४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय को करता हूँ) वह द्रव्य-पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता। इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में अनन्त असत् का सेवन आ जाता है।

वस्तु में से क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता। निमित्त सहायता करता हो सो बात नहीं है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो। जैसे ज्ञान समस्त वस्तु को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है, इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है, वह उपादान के लिये कोई असर, सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं डालता।

जिस समय निजलक्ष के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शन-पर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव, गुरु, शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं।

प्रश्न—जीव को सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता?

उत्तर—यह हो ही नहीं सकता कि जीव की तैयारी हो और सच्चे देव, गुरु, शास्त्र न हों। जब उपादानकारण तैयार होता है तब निमित्तकारण स्वयमेव उपस्थित होता है, किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता। उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है। दोनों स्वतंत्ररूप में अपने अपने कार्य के कर्ता हैं।

अहो! वस्तु कितनी स्वतंत्र है! समस्त वस्तुओं में क्रमवर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्धपर्याय

कहो, जो पर्याय होनी है वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप में जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर का अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमशः विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

वस्तु की अनादि अनन्त समय की पर्याय में से एक भी पर्याय का क्रम नहीं वदलता। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय हैं उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक एक पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दूं तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त काल की पर्यायों में परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप में मानता है, और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनंत हैं। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही उस उस समय की पर्यायें वस्तु में से क्रमवद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी सीधी नहीं होती तथा आगे पीछे भी नहीं होती। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है। इस क्रमवद्धपर्याय के सिद्धान्त में केवलज्ञान खड़ा हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिर स्थायी प्याले हैं उन्हें पचाने के लिए श्रद्धा–ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। जव अनादि अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति में लेते हैं तव क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा होती है; क्योंकि क्रमवद्धपर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमवद्धपर्याय

की श्रद्धा करता है वह अनादि अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीतिवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने पर साधकपर्याय में अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जायगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझे विना छुटकारा नहीं है, वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए विना पर्याय में शान्ति कहाँ से आयगी, यदि सुखदशा चाहिए हो तो वह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा जिसमें से सुखदशा प्रगट हो सके।

अहो! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपने में समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है, उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो जो पर्यायें होती हैं उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्धदशा की प्रतीति नहीं है उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषमभाव से क्रमबद्धरूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषमभाव से है (विकारी है) और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है वह समभाव से क्रमबद्ध विशेषशुद्ध होती जाती है।

इसमें तो सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि पर दृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ संबंध न रहने पर भी दृष्टि किस ओर जाती है इस पर क्रमबद्धपर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से पर वस्तु (देव, शास्त्र, गुरु अथवा मंदिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव से नरक

से कोई रुपया पैसा इत्यादि पर वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो पर वस्तु जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है वही वस्तु उस काल और उस क्षेत्र में स्वयं आ जाती है, वह आत्मभाव के कारण नहीं आती। समस्त वस्तु की पर्यायें अपने क्रमवद्ध नियमानुसार ही होती हैं उनमें कोई फर्क नहीं आता। इस समझ में वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञानस्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त पर द्रव्यों के कर्तृत्व को छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमें सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में सभी पर्याय क्रमबद्ध होती हैं उसी प्रकार जड़ में भी जड़ की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं। कर्म की जो जो अवस्था होती है उसे आत्मा नहीं करता किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्धपर्याय है। कर्म के परमाणुओं में उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थायें (कारण) हैं वे भी परमाणु को क्रमबद्ध दशायें हैं। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के परमाणुओं की दशा वदल नहीं गई, किन्तु परमाणुओं में ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमवद्ध अवस्था में भंग नहीं पड़ जाता; जीव अपनी दशा में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमबद्ध-दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है, परमाणु में उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उस का कुछ नहीं करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमवद्धपर्याय ही है तो फिर जैनों में तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पड़े हैं उसके संबंध में क्या समझा जाय?

उत्तर—हे भाई ! यह सभी शास्त्र आत्मा को ही वतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है उसका आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते हैं यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है। निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ता-कर्मसम्बन्ध किंचित्‌मात्र भी नहीं है।

प्रश्न—बंध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निद्धत्त, और निकाचित, ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे हैं ?

उत्तर—अहो, इसमें भी वास्तव में तो चैतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दस प्रकार बताये हैं वे आत्मा के परि-णामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वैसे दस प्रकार से हो सकता है यह बताने के लिये कर्म के भेद करके सम-झाये हैं। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें तो दोनों के निमित्त-नैमित्तिकसम्बंन्ध का ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नहीं की है कि कर्म आत्मा का कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमें जो अनादि अनन्त पर्याय होती हैं वही समय समय पर क्रमबद्ध होती हैं।

प्रश्नः—आपने तो यह कहा है न कि कर्म की उदीरणा होती है ?

उत्तरः—उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होने वाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो; कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया, परन्तु

जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का पुरुषार्थ नहीं किया किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओं को अल्प काल में ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन में यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वयं खिरने रूप थी वह खिर गई। परमाणु की अवस्था के क्रम में भंग नहीं पड़ता। बहुत काल के कर्म क्षण भर में टाल दिये इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीव ने बहुतसा पुरुषार्थ अपनी पर्याय में किया है।

छहों द्रव्य परिणमनस्वभावी हैं और वे अपने आप क्रमबद्ध-पर्याय में परिणमित होते हैं। छहों द्रव्य पर की सहायता के बिना स्वयं परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने में ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव की एक भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करने की जगह जीव पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढ़ले, अर्थात् पर्याय क्रमशः शुद्ध हो जाय।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है इसलिये इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिए, उसे जरा भी ढ़कना नहीं चाहिये। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये। परम सत् को ढ़कना नहीं चाहिये किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ-भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूप में मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढ़कर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे स्वभाव में निःशंक है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी संदेह का वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है; उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो वह स्वभाव से ही प्रारंभ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारभ किया था वहीं का वहीं ला रखा है। आत्मा में स्वाश्रय से साधकदशा प्रारंभ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा में ही होती है। केवलज्ञान संपूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारंभ किया है और न बाह्य में कहीं रुकनेवाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझाई है, आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है वह निश्चय करने में अनन्त वीर्य है। वह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा बुरा मानकर जो रागद्वेष होता था वह सब दूर हो गया, पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक जाता था वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है, राग, निमित्त

वगैरह की ओर की दृष्टि गई और स्वभाव में दृष्टि हो गई। स्वभाव-दृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है तत्-संबंधी यह वात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत, तप, भक्ति, दान और पठन-पाठन यह सब बिना एकाई के शून्य के समान व्यर्थ है। मिथ्यादृष्टि जीव के यह कुछ सच्चे नहीं होते।

हे जीव! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवानपना वस्तु में ही प्रगट होता है। यदि ऐसे अवसर पर यथार्थवस्तु को दृष्टि में न लें तो वस्तु के स्वरूप को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त संसार दूर हो जाता है। वस्तु में संसार नहीं है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय को तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की बात है, एकवार हाँ तो कह। तेरे स्वभाव को स्वीकृति में से स्वभावदशा को अस्ति आयेगी; स्वभाव-सामर्थ्य से इन्कार मत कर। सब प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य में दृष्टि करके देख, द्रव्य में से सादि—अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के बल से मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है। ॥३२१–३२२॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमवद्ध मोक्षपर्याय हुए विना न रहे; क्योंकि क्रमवद्ध की श्रद्धा का भार निज में आता है। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। पर द्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा ऐसी दृष्टि के टूट जाने से और निज द्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तु की क्रमवद्ध अवस्था होती है ऐसी दृष्टि होने पर स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता-दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोड़कर संपूर्ण स्थिर

होकर अल्पकाल में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से चैतन्य में शुद्ध क्रमवद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो इस प्रकार क्रमवद्धता का निश्चय करना वास्तव में तब कहलाता है जव बाह्य वस्तु से उदास होकर सबका ज्ञाता मात्र रह जाय; तभी उसके क्रमवद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानना है कि पर से अपने को सुख दुःख होता है उसे क्रमबद्ध-पर्याय की किंचित् मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्तगुण हैं, वे गुण पलटकर समय समय पर एक के बाद एक अवस्था होतीं है, वह उल्टी सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं; कोई भी समय अवस्था के बिना—खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्ष-दशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर वस्तु पर लक्ष नहीं रहेगा, और इसलिये किसी पर वस्तु पर रागद्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त पर पदार्थों का लक्ष छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहेगा कि "मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी" क्योंकि तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमें यह विचार (राग-द्वेष) कदापि नहीं होता कि—"यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता।" क्रमवद्धपर्याय का निश्चय करनेवाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमवद्ध अवस्था होनी थी, वैसा ही हुआ है; तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस वह ज्ञाता हो गया; ज्ञातारूप में रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह है क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा का फल।

क्रमवद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतराग-स्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये विना मोक्ष के ओर की क्रमवद्धपर्याय नहीं होती। जिसके ज्ञान में पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता वह अपने पुरुषार्थ को प्रारभ नहीं करता और इसलिये पुरुषार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नहीं होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाले की क्रमवद्धपर्याय निर्मल नहीं होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाला अनन्त संसारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमवद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो—वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमवद्धपर्याय जव जो होनी हो वही हो तो फिर विकारीभाव भी जव होने हों तभी होंगे न ?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीत को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जव होनी थी तव हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकार को जाननेवाले के ज्ञान की रुचि है या विकार की रुचि

है ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है; स्वभाव के ज्ञान में अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता, किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्प काल में क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकारकी ओर जाता है। "जो होनी होती है वही पर्यायक्रमबद्ध होती है" इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में पर में सुखबुद्धि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही संतोष होता है।

जैसे किसी बड़े आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमंत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्टान जिमाये,— इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमंत्रण है; 'मुक्ति के मंडप में' सबको आमंत्रण है। मुक्तिमंडप के हर्ष–भोज में सर्वज्ञ-भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में परोसे गये न्यायों में से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान, जो इस बात को स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है। लो ! यह मुक्तिमंडप और इसका हर्ष–भोज, इसे स्वीकार करो ! अब, गाथा ३२१–३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृढता के लिये ३२३ वीं गाथा कहते हैं। जो जीव पहले गाथा ३२१–३२२ में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो णिच्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठि सुद्धो जो शंकदि सो हु कुदिट्ठि ॥३२३॥

अर्थः—इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो

सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है-श्रद्धा करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता-शंका संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है—प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर जिन द्रव्यों और उनकी अनादि अनन्तकाल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं, वे "सद्दिट्ठि सुद्धो" अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। मूल पाठ में 'सो सत्दृष्टिः शुद्धाः' यह कह कर भार दिया है। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही है और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि "शंकदि सो हु। कुदिट्ठि' अर्थात् जो उसमें शंका करता है वह प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है—सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्यदेव ने इस ३२१-३२२-३२३ वीं गाथाओं में गूढ रहस्य संकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव बराबर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है। सर्वज्ञ-देव और सम्यग्दृष्टि में इतना अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यों कि क्रमबद्धपर्यायों को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्यायों को आगमप्रमाण से प्रतीति में लेता हैं अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान रागद्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि के भी अभिप्राय में राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञभगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं; सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नहीं जानता तथापि वह श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करता है। उसका ज्ञान भी निःशंक है। पर्याय प्रत्येक वस्तु का धर्म है, वस्तु स्वतंत्रतया अपनी पर्यायरूप में होती है। जानने पर 'यों कैसे हुई' ऐसी शंका करनेवाले को वस्तु के स्वतंत्र 'पर्यायधर्म' की और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने

में यों कैसे हुआ, इस प्रकार की शंका को स्थान ही कहाँ है? 'ऐसा कैसे' ऐसी शंका करने का ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको निःशंक रूप में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्प काल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतंत्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष कराता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्या-दृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उसमें मैं परिवर्तन कर दूँ वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी श्री मुखवाणी के न्यायों को नहीं मानता वह प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव तीनकाल और तीनलोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगट रूप में उसीसे स्वयं होती हैं तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमबद्धपर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इस में तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है वह मानो द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से

निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी बातूनी और अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव में मिलकर—स्वभाव की एकता करके, राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं है वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महा सन्तमुनिश्वरों ने जंगल में रह कर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तंभ हैं, आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक एक आचार्य-देव ने अद्‌भुत कार्य किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परिपहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो, पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है, इसके संस्कार अपूर्व वस्तु हैं, और इसे समझना मानो मुक्ति को वरण करने का श्रीफल है—जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्नः—जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने में अनेकान्त-स्वरूप कहाँ आया?

उत्तरः—जो होना होता है वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है—यह जानकर पर से हटकर जो अपनी ओर सन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है; उसकी मान्यता में अनेकान्तस्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमवद्ध आती है, मेरी पर्याय में से नहीं आती' इस प्रकार अने-कान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से क्रमवद्ध जो होनी होती है सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नहीं करता' इस प्रकार

अनेकान्त है। 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिये परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है इसकी प्रतीति नहीं करता अर्थात् पर लक्ष को छोड़कर स्वलक्ष नहीं करता वह एकान्तवादी है।

प्रश्न—भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पांच समवाय कहे हैं और आप तो मात्र पुरुषार्थ-पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं?

उत्तर—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चारों समवाय अवश्य होते हैं। पांच समवायों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ करनेवाला नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है, इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोड़ना सो पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है वह दशा स्वभाव में थी सो वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्धपर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। बस, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर झुकता था उसकी जगह

स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह, कर्म है।

इसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पांचवाँ समवाय नास्तिरूप है, वह निमित्त से संवद्ध है। यदि पांचवाँ समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम के चारों अस्तिरूप में और कर्म को नास्तिरूप में—इस प्रकार आत्मा में पांचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज के पुरुषार्थ में पांचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पांचवाँ नास्ति से अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निज लक्ष करके चार समवाय-रूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष करके परिणमित नहीं होता (अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता) तब कर्म की अवस्था को निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदय में हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वयं निज में एक-मेक हुआ और कर्म की ओर नहीं गया सो यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा में एक समय की स्व सन्मुखदशा में पांचों समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पांचों ही समवाय

एक ही समय में होते हैं, स्व की प्रतीति में पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति में केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव के केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा ?

उत्तर—अद्भुत है तुम्हारी शंका, तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नहीं है इसलिये तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलंबित हुई है। जो ऐसी शंका करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ?' वह मूर्ख है, इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ?' जो ऐसी शंका करता है उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलंबित हुई है और ऐसी शंका करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नहीं ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और मैं जब अपनी केवलज्ञान-दशा प्रगट करता हूँ तब घातियाकर्म होते ही नहीं, ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो उसे निमित्त की शंका नहीं होती। जो निमित्त की शंका में अटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। जो उपादान है सो निश्चय है और जो निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चयनय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कमी की स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमबद्धपर्याय की

श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है। इसलिये क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है इसलिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्यायें क्रमबद्ध हैं' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के विना नहीं होती। जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नहीं मानता वह सर्वज्ञता को नहीं मानता और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती हैं उसी प्रकार होती हैं—जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है; आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहबद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगत के सर्व द्रव्यों की पर्याय अपने अपने भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो! इसमें एक दूसरे का क्या कर सकता है समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस! ऐसी प्रतीति करने पर ज्ञान अलग ही रह गया; सबमें से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के विना ही कार्य होता है। विकाररूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का

सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? पर वस्तु का और निज वस्तु का परिणमन तो बिलकुल भिन्न ही है, इसलिये जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है, निमित्त कहीं जीव की रागद्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाता। इसलिये निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करने के लिये है; ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नहीं होता।

वस्तुविज्ञान-अंक

इसमें श्री प्रवचनसार की ९९ वीं गाथा के प्रवचन प्रगट किये गये हैं। इस गाथा की गहराई में भरा हुआ वस्तुस्वरूप का यथार्थ विज्ञान पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विशिष्ट सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ इन प्रवचनों में प्रगट किया है; इससे इस का नाम 'वस्तुविज्ञान-अंक' रखा गया है।

वीतरागी विज्ञान में ज्ञात होता विश्व के ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव

[श्री प्रवचनसार गाथा ६६ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनों का सार]

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिसं भवणाससंबद्धो ॥ ६६ ॥
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः ।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ६६ ॥

'द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौ द्रव्य छे;
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे.' । ९९ ।

यह गाथा अलौकिक है। इस गाथा में आचार्यदेव ने वस्तु के स्वभाव का रहस्य भर दिया है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है और उस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है, इसलिये द्रव्य सत् है।

यहाँ द्रव्य के समय-समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये आचार्यदेव क्षेत्र का उदाहरण देते हैं। द्रव्य का—(आत्मा का) असंख्यप्रदेशी क्षेत्र एक साथ खुला-फैला हुआ है, इससे वह झट लक्ष में आ जाये इसलिये उस क्षेत्र का उदाहरण देकर परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं।

जिस प्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूप से लक्ष में लिया जाये तो उसका वास्तु (क्षेत्र) एक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य के तीनोंकाल के समय-समय के परिणामों को एक साथ लक्ष में लिया जाये तो उसकी वृत्ति एक है; तथापि, जिस प्रकार क्षेत्र में प्रदेशक्रम है उसी प्रकार द्रव्य के परिणमन में प्रवाहक्रम है। द्रव्य के विस्तार-क्रम का अंश वह प्रदेश है उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अंश सो परिणाम है।

देखो, यह ज्ञेय अधिकार है। समस्त ज्ञेय सत् हैं और उन्हें जानने-वाला ज्ञान है। समस्त ज्ञेय जैसे हैं वैसे एक साथ ज्ञान में ज्ञात होते हैं। यहाँ आत्मा ज्ञान का सागर है और सामने स्व-पर समस्त ज्ञेयों का सागर भरा पड़ा है। बस, इसमें मात्र वीतरागता ही आई; ज्ञेय में 'यह ऐसा क्यों' ऐसा राग-द्वेष या फेरफार करना नहीं रहा। अहो! आचार्यदेव ने प्रत्येक गाथा में वीतरागी बरफी कें पर्त लगाये हैं, प्रत्येक गाथा में से वीतरागता के टुकड़े निकलते हैं।

समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में द्रव्य अपने क्रमबद्ध-परिणाम से उत्पन्न होता है—यह बात करके वहाँ सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण विषय बतलाया है—द्रव्यदृष्टि कराई है। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है इससे, समस्त द्रव्य परिणमनस्वभाव में स्थित हैं—ऐसा कह-कर पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ज्ञेय बतलाये हैं;—ऐसे सर्व ज्ञेयों के स्वभाव और उन्हें जाननेवाले ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य पृथक् पृथक् स्वयंसिद्ध पदार्थ हैं। सामान्यतया देखने पर उस प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र अखण्ड एक है, तथापि उस क्षेत्र के विस्तार का जो सूक्ष्म अंश है वह प्रदेश है। छह द्रव्यों में से परमाणु और काल का क्षेत्र तो एक प्रदेश ही है। आत्मा का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। वह समग्रपने द्वारा एक होने पर भी उसका अन्तिम अंश प्रदेश है। इस प्रकार यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त है और सिद्धान्तरूप में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणामों को समझाना है। जिस प्रकार असंख्य-प्रदेशी विस्तार एक साथ लेने से द्रव्य का क्षेत्र एक है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त परिणमनधारा समग्रपने के द्वारा एक है और उस संपूर्ण प्रवाह का छोटे से छोटा एक अंश सो परिणाम है। प्रत्येक परिणाम को पृथक् किये बिना समग्ररूप से द्रव्य के अनादि-अनन्त प्रवाह को देखने पर वह एक है; अनादि निगोद से

लेकर अनन्त सिद्धदशा तक द्रव्य का परिणमनप्रवाह एक ही है। जिस प्रकार संपूर्ण क्षेत्र एक साथ फैला हुआ पड़ा हुआ है, उसमें प्रदेशभेद से न देखा जाये तो द्रव्य का क्षेत्र एक ही है। उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के प्रवाह में परिणाम का भेद न किया जाये तो संपूर्ण प्रवाह एक ही है, और उस त्रैकालिक प्रवाहक्रम का प्रत्येक अंश सो परिणाम है।

यहाँ प्रदेशों का विस्तारक्रम क्षेत्र अपेक्षा से है और परिणामों का प्रवाहक्रम परिणमन अपेक्षा से है। यहाँ क्षेत्र का दृष्टांत देकर आचार्यदेव परिणामों का स्वरूप समझाना चाहते हैं।

यह, ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेयपदार्थों का वर्णन है। कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात कैसे ज्ञात हो?—किन्तु भाई! यह सब ज्ञेय हैं इसलिये अवश्य ज्ञात हो सकते हैं; और तेरा ज्ञानस्वभाव समस्त ज्ञेयों को जान सकता है। आत्मा ज्ञाता है और स्वयं स्वज्ञेय भी है। तथा अन्य जीव—पुद्गलादि परज्ञेय हैं। उस ज्ञान और ज्ञेय को कैसा प्रतीति में लेने से सम्यक्त्व होता है उसकी यह बात है।

धर्मास्तिकाय आदि के असंख्यप्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए हैं; उनमें कभी एक भी प्रदेश का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; उसी प्रकार द्रव्य का अनादि अनन्त प्रवाहक्रम भी कभी खण्डित नहीं होता। प्रवाहक्रम कहकर आचार्यदेव ने अनादिअनन्त ज्ञेयों को एक साथ स्तब्ध बतला दिया है। 'प्रवाहक्रम' कहने से समस्त परिणामों का क्रम व्यवस्थित ही है, कोई भी परिणाम—कोई भी पर्याय आगे—पीछे नहीं होती। इस प्रतीति में ही द्रव्यदृष्टि और वीतरागता है।

समय-समय के परिणामों का एकदम सूक्ष्म सिद्धान्त समझाने के लिये प्रदेशों का उदाहरण दिया है वह भी सूक्ष्म मालूम होता है।

भीतर अपने लक्ष में यदि वस्तु का ख्याल आये तो समझ में आ सकता है। 'यह स्वरूप इस प्रकार कहना चाहते हैं'—ऐसा अंतर् में अपने को भास होना चाहिये। समझने के लिये जीने (सीढ़ी)का दृष्टान्त लेते हैं:—जिस प्रकार क्षेत्र से देखने पर पूरा जीना ऐसे का ऐसा स्थित है, उसका छोटा अंश प्रदेश है; और जीने की लंबाई से देखने पर एक के बाद एक सीढ़ियों का प्रवाह है, पूरे जीने का प्रवाह एक है, उसकी एक-एक सीढ़ी उसके प्रवाह का अंश है। उन सीढ़ियों के प्रवाह का क्रम टूटता नहीं है। दो सीढ़ियों के बीच में भी छोटे छोटे भाग किये जायें तो अनेक भाग होते हैं, उस चढ़ते हुए प्रत्येक सूक्ष्म भाग को परिणाम समझना चाहिए। उसी प्रकार आत्मा असंख्य प्रदेशों में फैला हुआ एक है, और उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश सो प्रदेश है; और संपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व अनादि-अनन्त प्रवाह-रूप से एक है तथा उस प्रवाह के प्रत्येक समय का अंश सो परिणाम है। उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियों की भांति क्रमबद्ध है, उन परिणामों का क्रम आगे-पीछे नहीं होता। इसलिये सब कुछ जैसा है वैसा जानना ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बीच में दूसरा कुछ डाले तो उसे वस्तु के सत्स्वभाव की श्रद्धा नहीं है। वस्तु जैसी हो वैसा जाने-माने तो ज्ञान-श्रद्धा सच्चे हों न! वस्तु जैसी हो उससे अन्य प्रकार से माने तो ज्ञान-श्रद्धा सच्चे नहीं होते इसलिये धर्म नहीं हो सकता।

यहाँ क्षेत्र के दृष्टान्त से परिणाम का स्वरूप समझाया है।

जिस प्रकार द्रव्य का क्षेत्र सो विस्तार, और विस्तारक्रम के अंश सो प्रदेश। उसी प्रकार द्रव्य का परिणमन सो प्रवाह और प्रवाहक्रम के अंश सो परिणाम।

इस प्रकार क्षेत्र के दृष्टान्त द्वारा परिणाम सिद्ध करके एक बात पूरी की; अब उन परिणामों का एक दूसरे में अभाव बतलाते हैं।

'जिस प्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है, उसी प्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है।'

द्रव्य में विस्तारक्रम अर्थात् क्षेत्र अपेक्षा से विस्तार का कारण प्रदेशों का परस्पर भिन्नत्व है। पहले प्रदेश का दूसरे में अभाव, दूसरे का तीसरे में अभाव—इस प्रकार प्रदेशों के भिन्न-भिन्नपने के कारण विस्तारक्रम रचा हुआ है। यदि प्रदेशों का एक—दूसरे में अभाव न हो, और एक प्रदेश दूसरे प्रदेश में भी भावरूप से बर्तता हो अर्थात् सब मिलकर एक ही प्रदेश हो तो द्रव्य का विस्तार ही न हो, किन्तु द्रव्य एकप्रदेशी ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम कहने से ही प्रदेश एक-दूसरे के रूप से नहीं है ऐसा आ जाता है। 'विस्तार-क्रम' अनेकता का सूचन करता है, क्योंकि एक में क्रम नहीं होता। अब, अनेकता कब निश्चित होती है? सबमें एकता न हो किन्तु भिन्नता हो, तभी अनेकता निश्चित होती है, और अनेकता हो तभी विस्तारक्रम होता है; इसलिये विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है।

इसी प्रकार अब विस्तारक्रम की भाँति प्रवाहक्रम का स्वरूप कहा जाता है। 'प्रवाहक्रम' कहते ही परिणामों की अनेकता सिद्ध होती है, और परिणामों की अनेकता कहते ही एक का दूसरे में अभाव सिद्ध होता है। क्योंकि यदि एक का दूसरे में अभाव हो तभी अनेकता हो। यदि ऐसा न हो तो सब एक ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम में जिस प्रकार एक प्रदेश का दूसरे में अभाव है उसी प्रकार प्रवाह-क्रम में एक परिणाम का दूसरे में अभाव है। इस प्रकार परिणामों में एक का दूसरे में अभाव होने से अनादिअनंत प्रवाहक्रम रचा हुआ है। ऐसा द्रव्य का स्वभाव है; ऐसे परिणामस्वभाव में द्रव्य स्थित है।

यहाँ विस्तारक्रम तो दृष्टान्तरूप है। और प्रवाहक्रम सिद्धान्तरूप है। दृष्टान्त सर्वप्रकार से लागू नहीं होता। पुद्गल और काल द्रव्य

का विस्तार तो एकप्रदेशी ही है इसलिये उसमें प्रदेशों के परस्पर व्यतिरेक का दृष्टान्त लागू नहीं होता, किन्तु प्रवाहक्रम का जो सिद्धान्त है वह समस्त द्रव्यों में समानरीति से लागू होता है।

जैसे—२५ कमरों के विस्तारवाली दालन कब होती है? यदि वे कमरे क्रमानुसार एक-दूसरे से पृथक् हों तब। उसी प्रकार आत्मा में असंख्यप्रदेशी विस्तारवाला क्षेत्र कब होता है? जब कि एक प्रदेश का दूसरे प्रदेश में अभाव हो और वे समस्त प्रदेश विस्तारक्रम में अखण्डरूप से एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हों।

इसी प्रकार (-प्रदेशों के विस्तारक्रम की भाँति) द्रव्य का अनादि-अनंत लम्बा प्रवाहक्रम कब होता है? जब कि एक परिणाम का दूसरे परिणाम में अभाव हो तब। पहला परिणाम दूसरे परिणाम में नहीं है, दूसरा तीसरे में नहीं है—इस प्रकार परिणामों में व्यतिरेक होने से द्रव्य में प्रवाहक्रम है। द्रव्य के अनादि-अनंत प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं; ऐसे द्रव्य सो ज्ञेय हैं। ज्ञेय द्रव्य की यथावत् प्रतीति करने से श्रद्धा में निर्विकल्पता और वीतरागता हो वह मोक्ष का मार्ग है।

अहो! एक ही द्रव्य के एक परिणाम में दूसरे परिणाम का भी जहाँ अभाव है वहाँ एक द्रव्य की अवस्था में दूसरा द्रव्य कुछ करे—यह तो बात ही कहाँ रहती है? एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में कुछ करता है अथवा एक द्रव्य के क्रमपरिणामों में परिवर्तन किया जा सकता है—ऐसा जो मानता है उसे ज्ञेयतत्त्व की खबर नहीं है और ज्ञेयों को जाननेवाले अपने ज्ञानतत्त्व की भी खबर नहीं है।

कोई ऐसा माने कि 'मैंने अपनी बुद्धि से पैसा कमाया' तो ऐसा नहीं है; क्योंकि बुद्धि के जो परिणाम हुए वह आत्मा के प्रवाहक्रम में आया हुआ परिणाम है और पैसा आया वह पुद्गल के प्रवाहक्रम

में आया हुआ पुद्गल का परिणाम है। दोनों द्रव्य अपने अपने प्रवाह-क्रम में भिन्न भिन्नरूप से वर्त रहे हैं। आत्मा अपने परिणामप्रवाह में स्थित है, और जड़ पदार्थ जड़ के परिणामप्रवाह में स्थित हैं। दोनों पदार्थों का अस्तित्व भिन्न भिन्न है। जिसने पदार्थों का ऐसा स्वरूप जाना उसके 'मैं पर में कुछ फेरफार करता हूँ या पर के कारण मुझ में कुछ फेरफार होता है'—ऐसी मिथ्याबुद्धि तो दूर हो गई, इसलिये वह समस्त द्रव्यों का ज्ञाता रह गया। केवली भगवान वीतरागरूप से सब के ज्ञाता हैं; उसी प्रकार यह भी ज्ञाता ही है। अभी साधक है इसलिये अस्थिरता के राग-द्वेष होते हैं किन्तु वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञान और राग की एकतापूर्वक राग-द्वेष नहीं होते किन्तु ज्ञान के ज्ञेयरूप से राग-द्वेष होते हैं। इसलिये अभिप्राय से (श्रद्धा से) तो वह साधक भी पूर्ण ज्ञाता ही है।

यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानने से स्वयं छहों द्रव्यों का ज्ञाता हो गया और छहों द्रव्य ज्ञान में ज्ञेय हुए। इस ओर स्वयं एक ज्ञाता और सामने छहों द्रव्य ज्ञेय;—ऐसा ज्ञातापना बतलाने के लिये 'स्वात्मानुभव मनन' में कहा है कि—आत्मा सप्तम द्रव्य हो जाता है।

अहो! ज्ञान ज्ञातास्वरूप से है, उस ज्ञान की प्रतीति निर्विकल्प-सम्यक्त्व का कारण है। प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ऐसे द्रव्य-स्वभाव को निश्चय करे तो ज्ञान जानने का ही कार्य करे; और ज्ञेय में 'ऐसा क्यों' ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प न आये। अस्थिरता का विकल्प आये वह तो ज्ञान का ज्ञेय हो जाता है, क्योंकि ज्ञान में स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो गया है इसलिये वह राग को भी ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप से जानता है, इसलिये उस विकल्प में 'ऐसा विकल्प क्यों?' ऐसा विकल्प का जोर नहीं आता; किन्तु 'यह राग भी ज्ञेयरूप से सत् है'—ऐसा ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञान की ही अधिकता रहती है;—दूसरे प्रकार से कहा जाये तो ज्ञान और

राग का भेदज्ञान हो जाता है। और पश्चात् भी ऐसे ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञेयों को जानने से उस ज्ञान का विकास होकर उसकी सूक्ष्मता और वीतरागता बढ़ती जाती है, और क्रमशः पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान होने से संपूर्ण लोकालोक ज्ञेयरूप से एक साथ ज्ञान में डूब जाता है।—ऐसा यह अधिकार है।

यहाँ आत्मा में केवलज्ञान का सारा दल, और सामने लोकालोक ज्ञेय का दल। बस! ज्ञेय–ज्ञायकस्वभाव रह गया। ज्ञेय–ज्ञायकपने में राग–द्वेष या फेरफार करना कहाँ रहा? अहो! ऐसे स्वभाव का स्वीकार तो कर! इसकी स्वीकृति में वीतरागी श्रद्धा है और उसीमें वीतरागता तथा केवलज्ञान के बीज हैं।

❀

दो बातें हुई हैं:—(१) प्रथम तो, क्षेत्र के दृष्टान्त से द्रव्य के अनादि–अनन्त प्रवाह की एक समग्रवृत्ति बतलाई, और उस प्रवाह-क्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम हैं—ऐसा बतलाया। इस प्रकार द्रव्य को सत् सिद्ध किया। 'उसमें, अखण्ड अस्तित्व की अपेक्षा से एकत्व और परिणामों की अपेक्षा से अनेकत्व—इस प्रकार सत् में एकत्व–अनेकत्व भी सिद्ध किया,

(२) उसके पश्चात् परिणामों का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

इस प्रकार दो बातें सिद्ध कीं; अब उनका विस्तार करके उसमें उत्पाद-व्यय–ध्रौव्य निकालते हैं।

'जिस प्रकार वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न–अविनष्ट होने से उत्पत्ति–संहार–ध्रौव्यात्मक हैं, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित

एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न–अविनष्ट होने से उत्पत्ति–संहार–ध्रौव्यात्मक हैं।'

इसमें प्रदेशों की बात दृष्टान्तरूप और परिणामों की बात सिद्धान्तरूप है।

प्रश्न—यह कौनसा विषय चल रहा है?

उत्तर—यह वस्तुस्वभाव की बात हो रही है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप परिणाम—वह पदार्थों का स्वभाव है, और उस स्वभाव में सदैव स्थित द्रव्य सत् है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। उसमें प्रथम इतनी बात तो सिद्ध कर चुके हैं कि—द्रव्य की वृत्ति अनादि–अनन्त अखण्डरूप से एक होने पर भी, उसके प्रवाहक्रम का अंश सो परिणाम है। वे–वे परिणाम एक दूसरे में नहीं वर्तते किन्तु उनका एक–दूसरे में अभाव है। उसमें से अब विस्तार करके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निकालते हैं। उसमें भी प्रथम क्षेत्र का दृष्टान्त देते हैं।

संपूर्ण द्रव्य के एक क्षेत्र को लें तो उसके प्रदेश उत्पत्ति–विनाशरहित हैं, और उन प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक होने से, वे अपने अपने स्वक्षेत्र में अपने से सत् और पूर्वप्रदेशरूप से असत् हैं;—अर्थात् वे प्रदेश अपने से उत्पादरूप हैं और पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से व्ययरूप हैं; इस प्रकार समस्त प्रदेश उत्पाद–व्ययरूप हैं और सर्व प्रदेशों का विस्तार साथ में ले लेने से द्रव्य के प्रदेश ध्रौव्यरूप हैं। इस प्रकार समस्त प्रदेश एकसमय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। (यहाँ प्रदेशों के जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहे हैं वे क्षेत्रअपेक्षा से समझना।) इस उदाहरण के अनुसार समय समय के परिणामों में भी उत्पाद व्यय-ध्रौव्यपना है। अनादि–अनन्त एक प्रवाह की अपेक्षा से परिणाम उत्पत्ति–विनाशरहित ध्रुव हैं, और वे परिणाम अपने अपने स्वकाल में उत्पादरूप हैं तथा पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं। इस प्रकार समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप हैं और ऐसे

उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है।

यहाँ प्रथम समुच्चय क्षेत्र की और समुच्चय परिणामों की इकट्ठी बात लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध किये हैं। एक परिणाम पृथक् करके उसकी बात फिर करेंगे। यह बात अकेले आत्मा की नहीं किन्तु समस्त द्रव्यों के स्वभाव की है। किन्तु यहाँ आत्मा की मुख्यता से बात की जाती है।

जिस प्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेशों में एक समय में क्षेत्र अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य लागू होता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रवाहक्रम में वर्तनेवाले समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट हैं और अखण्ड धारावाहीप्रवाह-रूप से वे उत्पन्न या विनष्ट नहीं हैं, इसलिये वे परिणाम उत्पाद-व्यय–ध्रौव्यरूप हैं।

प्रदेशों के उदाहरण में क्षेत्र--अपेक्षा से उत्पाद–व्यय--ध्रौव्य है और सिद्धान्त में परिणाम–अपेक्षा से (प्रवाह-अपेक्षा से, काल-अपेक्षा से) उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है।

देखो तो! क्रमबद्ध अपने अवसर में समस्त परिणामों के उत्पाद-व्यय–ध्रौव्य कहकर पूर्ण त्रैकालिक द्रव्य को ज्ञेयरूप से सामने रख दिया है। सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना किसी प्रकार यह बात भीतर नहीं जम सकती। इसकी प्रतीति में सम्यग्दर्शन है, और चौंसठपुटी पीपर घुंट रही हो इस प्रकार, इसके घोंटने में अकेली वीतरागता ही घुंटती है। अहो! अद्‌भुत बात रखी है।

द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट है, और एक अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे उत्पत्ति–विनाशरहित ध्रौव्य हैं।

यहाँ परिणामों का स्वअवसर कहकर आचार्यदेव ने अद्‌भुत बात की है। जितने एक द्रव्य के परिणाम, उतने ही तीनकाल के

समय, और जितने तीनकाल के समय उतने ही एक द्रव्य के परि-णाम। बस! इतना निश्चित करे तो अपने ज्ञायकपने की प्रतीति हो जाये। द्रव्य के प्रत्येक परिणाम का अपना अपना अवसर भिन्न है। तीनकाल के परिणाम एक साथ ज्ञेय हैं और यहाँ आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे ज्ञेय-ज्ञायकपने में बीच में राग नहीं रहा, अकेली वीतरागता ही आई। प्रथम ऐसी श्रद्धा करने से वीतरागी श्रद्धा होती है और पश्चात् ज्ञानस्वभाव में स्थिरता होने से वीतरागी चारित्र होता है।

अहो! द्रव्य के परिणामों का स्वअवसर कहो अथवा क्रमबद्ध-परिणाम कहो, उसकी प्रतिति करने से परिणामी-ऐसे त्रिकाली द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। परिणामों के स्वअवसर की यह बात स्वीकार करने से तो—'निमित्त आये तो परिणाम होता है, या निमित्त के कारण यहाँ परिणाम में फेरफार होता है, कर्म के उदय से विकार होता है, या व्यवहार करते करते परमार्थ प्रगट होता है, अथवा तो पर्याय के आधार से पर्याय होती है'—ऐसी कोई बात बनी ही नहीं रहती। समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में द्रव्य में से प्रगट होते हैं। जहाँ द्रव्य का प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर में 'सत्' है वहाँ निमित्त के सन्मुख देखना ही कहाँ रहा?–और 'मैं पर में फेर-फार करूँ या पर से मुझमें फेरफार हो'—यह बात भी कहाँ रही? —मात्र ज्ञाता और ज्ञेयपना ही रहता है, यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यक् पुरुषार्थ है।

जो तीनकाल के परिणाम हैं वे द्रव्य के प्रवाहरूपी सांकल की कड़ियाँ हैं। जिस प्रकार सांकल की कड़ियाँ आगे-पीछे नहीं होतीं, जैसी हैं वैसी ही रहती हैं; उसीप्रकार द्रव्य के अनादि-अनंत परि-णाम अपने अवसर से आगे-पीछे नहीं होते, प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर में सत् है। इसमें तीनकाल के परिणामों की एक अखण्ड

सांकल लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात है। द्रव्य अपने परिणाम-स्वभाव में स्थित है। इस समय परिणाम का स्वभाव क्या है वह बात चल रही है। प्रथम परिणामों का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध करते हैं, और पश्चात् द्रव्य उस परिणामस्वभाव में स्थित होने से वह द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् है— ऐसा अन्त में सिद्ध करेंगे। ज्ञाता, वस्तु के ऐसे स्वभाव को जाने और ज्ञेयों में फेरफार करना न माने वह सम्यक्त्व है, और पदार्थों के स्वभाव का ज्ञाता रहे उसमें वीतरागता है।

इस प्रवचनसार में पहले तो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में आत्मा का ज्ञान-स्वभाव निश्चत् किया है, और पश्चात् दूसरे अधिकार में ज्ञेयतत्त्वों का वर्णन किया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है, और जीव–अजीव में अपने अपने अवसर में होनेवाले तीनकाल के परिणाम ज्ञेय हैं;—ऐसी प्रतीति करने से कहीं फेरफार या आगे-पीछे करने की बुद्धि नहीं रही, इसलिये ज्ञान स्व में स्थिर हुआ। यही वीतरागता और केवलज्ञान का कारण है।

पदार्थों का जैसा सत्स्वभाव हो वैसा माने तो सत्मान्यता कहलाये; किन्तु पदार्थों के सत्स्वभाव से अन्य प्रकार माने तो वह मान्यता मिथ्या है। यह 'सत्' की श्रद्धा कराते हैं। 'सत्' द्रव्य का लक्षण है और वह उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यवाला है। द्रव्य के ऐसे सत्-स्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। यही सच्चा 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है। इस समय बात तो परिणामों की चल रही है, किन्तु परिणाम के निर्णय में परिणामी द्रव्य का निर्णय भी आ जाता है। परिणाम तो क्षणिक हैं, किन्तु वह परिणाम किसके! कहते हैं कि–त्रिकाली द्रव्य के। परिणाम अद्धर से नहीं होते किन्तु परिणामी के परिणाम हैं; इसलिये परिणाम का निर्णय करने से परिणामी द्रव्य का ही निर्णय होता है, और अकेले परिणाम के ऊपर से

रुचि हटकर त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर रुचि और ज्ञान झुकता है;—यही सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मूल है।

यह ९९वीं गाथा अत्युत्तम है; इसमें वस्तुस्थिति के स्वरूप का अलौकिक रीति से वर्णन किया है। समस्त द्रव्य 'सत्' है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित परिणाम उसका स्वभाव है, और ऐसे स्वभाव में सदैव प्रवर्तमान होने से द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है;—ऐसा इस गाथा में सिद्ध करना है।

(१) टीका में, प्रथम तो द्रव्य में समग्रपने द्वारा अनादि—अनंत प्रवाह की एकता, और प्रवाहक्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम—ऐसा बतलाया।

(२) फिर प्रवाहक्रम में प्रवर्तमान परिणामों का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

(३) पश्चात् समुच्चयरूप से सम्पूर्ण द्रव्य के त्रिकाली परिणामों को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया। (उसके दृष्टान्त में, द्रव्य के समस्त प्रदेशों को क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया।)

(४) तत्पश्चात् एक ही परिणाम में उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यात्मकपना बतलाया। (उसके दृष्टान्त में, प्रत्येक प्रदेश में क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतालाये।)

(५) इस प्रकार परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने के पश्चात् अन्त में—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपरिणाम के प्रवाह में निरन्तर वर्त रहा है इसलिये द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सहित होने से सत् है—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध किये हैं।

उपर जो पाँच बोल कहे हैं, उनमें से इस समय यह तीसरे बोल का विवेचन हो रहा है। अपने अपने अवसर में त्रैकालिक समस्त परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एक ही साथ बात करके यहाँ अकेला ज्ञायकभाव ही बतलाया है। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञायकभाव और

सामने सम्पूर्ण ज्ञेय एकसाथ ले लिया है।

यहाँ परिणामों में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य समझाने के लिये प्रदेशों का उदाहरण लिया है। कोई ऐसा कहे कि—दूसरा कोई सरल उदाहरण न देकर आचार्यदेव ने प्रदेशों का ऐसा सूक्ष्म उदाहरण क्यों दिया?—तो कहते हैं कि—भाई! तू शान्त हो! आचार्यदेव ने प्रदेशों का उदाहरण योग्य ही दिया है। क्योंकि द्रव्य का सारा क्षेत्र एकसाथ अक्रम से फैला पड़ा है, और परिणामों की व्यक्तता तो क्रमशः होती है, इसलिये प्रदेशों का उदाहरण शीघ्र ही समझ में आ सकता है, और परिणामों की बात उससे सूक्ष्म है। यहाँ परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की सूक्ष्म एवं गम्भीर बात समझाना है इसलिये उदाहरण भी प्रदेशों का सूक्ष्म ही लेना पड़ा है। यदि बाह्य—स्थूल उदाहरण दें तो सिद्धान्त की जो सूक्ष्मता और गम्भीरता है वह ख्याल में नहीं आयेगी; इसलिये ऐसे सूक्ष्म उदाहरण की ही यहाँ आवश्यकता है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञान का स्वभाव 'जानना' है, अर्थात् ज्ञान जानने का ही कार्य करता है। आत्मा में और पर में क्रमशः जो अवस्था हो वह ज्ञेय है, उसे जैसी हो वैसा मात्र जानना ज्ञान का स्वभाव है किन्तु उसमें कुछ भी फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान करे क्या? ज्ञान तो जानता है। जानने के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान का कार्य नहीं है। रागादि परिणाम हुए उन्हें भी जानना ज्ञान का कार्य है, किन्तु उस राग को अपना त्रिकालीस्वभाव माने या हितकर माने ऐसा ज्ञान का कार्य नहीं है, और उस रागपरिणाम को बदलकर आगे-पीछे करे ऐसा भी ज्ञान का कार्य नहीं है। बस! स्व या पर, विकारी या अविकारी, समस्त ज्ञेयों को जानना ही ज्ञान का कार्य है; मैं रागादि परिणामों जितना ही हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं मानता।—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही

वीतरागता का मूल है।

इस जगत में अनंत जीव, अनंत पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और असंख्यात कालाणु—ऐसे छह प्रकार के पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक आत्मा का ज्ञानगुण छहों पदार्थों की क्रमशः होनेवाली समस्त अवस्थाओं को तथा द्रव्य-गुण को जाननेवाला है; ऐसा प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो जानता है वह जीव रागपरिणाम को जानता अवश्य है, किन्तु उस राग को अपना मूल स्वरूप नहीं मानता,—राग को धर्म नहीं मानता, राग को उपादेय नहीं मानता और रागपरिणाम को आगे-पीछे करनेवाला भी स्वभाव नहीं मानता। उसके अवसर में वह रागपरिणाम भी सत् है, और उसे जाननेवाला ज्ञान भी सत् है; द्रव्य के त्रिकाली प्रवाहक्रम में वह रागपरिणाम भी सत्रूप से आ जाता है, इसलिये वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। राग था इसलिये राग का ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञान का ही स्वभाव जानने का है। पूर्ण स्वज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान उस राग को भी स्वज्ञेय के अंशरूप से जानता है? त्रिकाली अंशी के ज्ञानसहित अंश का भी ज्ञान करता है। यदि राग को स्वज्ञेय के अंशरूप से सर्वथा न जाने तो उस ज्ञान में संपूर्ण स्वज्ञेय पूर्ण नहीं होता, इसलिये वह ज्ञान सच्चा नहीं होता; और यदि उस रागरूप अंश को ही पूर्ण स्वज्ञेय मान ले और त्रिकाली द्रव्य-गुण को स्वज्ञेय न बनाये तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। द्रव्य-गुण और समस्त पर्यायें-यह तीनों मिलकर स्वज्ञेय पूरा होता है; उसमें अंशी-त्रिकाली द्रव्य-गुण की रुचि सहित अंश को और परज्ञेय को जानने का कार्य सम्यग्ज्ञान करता है। यथार्थ ज्ञान में ज्ञेयों का स्वभाव कैसा ज्ञात होता है उसका यह वर्णन है।

समस्त पदार्थों का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है; प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय परिणाम होते हैं, वे परिणाम क्रमानुसार

अनादि-अनंत होते रहते हैं, इसलिये स्वअवसर में होनेवाले परिणामों का प्रवाह अनादि-अनंत है। उस प्रवाहक्रम का छोटे से छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाववाला है। अनादि-अनंत काल के प्रत्येक समय में उस-उस समय का परिणाम स्वयं सत् है। ऐसे सत् परिणामों को ज्ञान जानता है किन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। जैसे-अग्नि या बरफ आदि पदार्थों को आँख देखती है किन्तु उनमें कुछ भी फेरफार नहीं करती; उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेयों को सत्रूप से जैसे हैं वैसा जानती ही है, उनमें कुछ फेरफार नहीं करती। स्वअवसर में जब जो परिणाम है उस समय वही परिणाम होता है-अन्य परिणाम नहीं होते-ऐसा जहाँ ज्ञान में निश्चित् किया वहाँ किसी भी ज्ञेय को उलटा-सीधा करने की मिथ्याबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष नहीं होते।

अहा! देखो तो! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गंभीरता है! द्रव्य की पर्याय पर से बदलती है—यह बात तो है ही नहीं, किन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उलटा-सीधा करना चाहे तो भी नहीं हो सकती। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का अंश—परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नहीं होता। 'मैं जीव नहीं रहना चाहता किन्तु अजीव हो जाना है'-इस प्रकार जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है? नहीं बदल सकता। जीव पलटकर कभी भी अजीवरूप नहीं होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नहीं बदलता उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि-अनंत अवस्थायें भी जिस समय जो हैं उनमें फेरफार या आगा-पीछा नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने अपने काल में सत् हैं। बस, पर में या स्व में कहीं भी फेरफार

करने की बुद्धि न रही इसलिये ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि में रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जानने का कार्य करता है;—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवलज्ञान होने से पूर्व वह जीव केवलीभगवान का लघुनंदन हो गया। श्रद्धा अपेक्षा से तो वह साधक भी सर्व का ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को निश्चित् करने से स्व में या पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रही किन्तु ज्ञान में जानने का ही कार्य रहा। इसलिये ज्ञान में से 'ऐसा क्यों'—ऐसी हाय-हाय (-खलबलाहट) निकल गई और ज्ञान ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ—इसीमें ज्ञान का परमपुरुषार्थ है; इसीमें मोक्षमार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर में कर्तृत्वबुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती, और न उसे ज्ञान के स्वभाव का—ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो! समस्त द्रव्य अपने अपने अवसर में होनेवाले परिणामों में वर्त रहे हैं; उसमें तू कहाँ परिवर्तन करेगा? भाई! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को दृष्टा ही रख; दृष्टा को हाय-हाय करनेवाला न बना। दृष्टास्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं पर में फेरफार करता हूँ और पर मुझमें फेरफार करता है—ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है, उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति नहीं है। जगत के जड़ या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाह में वर्तते हैं, उनमें जो-जो अंश वर्तमान में वर्त रहा है उसे कोई आगे-पीछे नहीं कर सकता। मैं ध्यान रखकर शरीर को बराबर रखूँ—ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम में वर्त रहा है, उसके क्रम को कोई बदल नहीं सकता। कहीं भी फेरफार करने का आत्मा के किसी भी गुण का कार्य नहीं है, किन्तु स्व को जानते हुए पर को जाने-ऐसा

उसके ज्ञान-गुण का स्व-परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणमित होता रहता है; उसके त्रिकाल के प्रवाह में स्थित समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। अपने स्वकाल में वे सब परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं; पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और परस्पर संबंधवाले अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य हैं। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने काल में सत् हैं। वे परिणाम स्वयं अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नहीं हैं, किन्तु अपने पहले के-पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से वे असत् (व्ययरूप) हैं। और प्रथम पश्चात् के भेद किये विना अखण्डप्रवाह को देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य हैं। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम में वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाम में वर्त रहा है—कहीं भूत में या भविष्य में नहीं वर्तता। द्रव्य के तीनों काल के जो वर्तमान परिणाम हैं वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप हैं, और स्वपरिणामरूप से उत्पादरूप हैं, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूप से ध्रौव्यरूप हैं।

देखो, इसमें यह बात आ गई कि पूर्व के परिणाम अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम हैं इसलिये पूर्व के संस्कार वर्तमान पर्याय में नहीं आते, और न पूर्व का विकार वर्तमान में आता है; पहले विकार किया था इसलिये इस समय विकार हो रहा है-ऐसा नहीं है। वर्तमान वर्तमान परिणाम स्वतंत्रतया द्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह निर्णय होने से ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली जड़ द्रव्य बदलकर चेतन या चेतन द्रव्य बदलकर जड नहीं होता उसी प्रकार उसका वर्तमान प्रत्येक अंश भी बदलकर दूसरे अंशरूप नहीं होता। जिस-जिस समय का जो अंश है उस-उस

रूप ही सत् रहता है। बस, भगवान सर्वज्ञरूप से ज्ञाता हैं उसी प्रकार ऐसी प्रतीति करनेवाला स्वयं भी प्रतीति में ज्ञाता ही रहा।

पर के कारण पर में कुछ होता है-यह बात तो दूर रही, परन्तु द्रव्य स्वयं अपने अंश को आगे-पीछे करे ऐसी उस द्रव्य की शक्ति नहीं है; पहले का अंश पीछे नहीं होता, पीछे का अंश पहले नहीं होता।—ऐसा निर्णय करनेवाले को अंशबुद्धि दूर होकर अंशी की दृष्टि होने से सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद और मिथ्यात्वपरिणाम का व्यय हो जाता है।

प्रभु! तू आत्मा वस्तु है, तेरा ज्ञानगुण तेरे आधार से टिका है वह ज्ञाता स्वभाववाला है। और तेरे तीनकाल के परिणाम अपने अवसर के अनुसार द्रव्य में से होते रहते हैं। तेरे अपने वर्तमान में प्रवर्तमान अंश को कम-अधिक या आगे-पीछे कर सके-ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; और न पर के परिणाम में भी फेरफार हो सकता है। स्व-पर समस्त ज्ञेयों को यथावत् जानने का ही तेरा स्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति में ही आत्मा का सम्यक्त्व है।

प्रश्न —मिथ्यात्वपरिणाम को बदलकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसा तो लगता है न?

उत्तर — देखो, ज्ञातास्वभाव की प्रतीति करने से सम्यक्दर्शन हुआ उसमें मिथ्यात्व दूर हो ही गया है। सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद हुआ उस समय मिथ्यात्वपरिणाम वर्तमान नहीं होते, इसलिये उन्हें बदलना भी कहाँ रहा? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसे लक्ष से सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु द्रव्यसन्मुख दृष्टि होने से सम्यक्त्व का उत्पाद होता है उसमें पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का अभाव हो ही गया है। इसलिये उस परिणाम को भी बदलना नहीं रहता। मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई उसे भी आत्मा जानता है, किन्तु परिणाम के किसी भी क्रम को वह आगे-पीछे नहीं करता।

अहो ! जिस-जिस पदार्थ का जो वर्तमान अंश है वह कभी नहीं बदलता।—इसमें अकेला वीतरागीविज्ञान ही आता है। पर्याय को बदलने की बुद्धि नहीं है और 'ऐसा क्यों'—ऐसा विषमभाव नहीं है इसलिये श्रद्धा और चारित्र दोनों का मेल बैठ गया। इस ९९वीं गाथा में दो नौ इकट्ठे होते हैं और उनमें से सम्यक्दर्शन और सम्यक्-चारित्र दोनों इकट्ठे हो जायें ऐसा उच्च भाव निकलता है। जिस प्रकार नौ का अंक अफर (जो फिर न सके) माना जाता है उसी-प्रकार यह भाव भी अफर हैं।

त्रिकाली द्रव्य के प्रत्येक समय के परिणाम सत् हैं—ऐसा सर्वज्ञ-देव ने कहा है; द्रव्य सत् है और पर्याय भी सत् है; यह 'सत्' जिसे नहीं बैठा और पर्यायों में फेरफार करना मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की, सर्वज्ञदेव की, गुरु की या शास्त्र की बात नहीं जमी है, और वास्तव में उसने उन किसी को नहीं माना है।

त्रिकाली वस्तु का वर्तमान कब नहीं होता?—सदैव होता है। वस्तु का कोई भी वर्तमान अंश ख्याल में लो वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप है। वस्तु को जब देखो तब वह वर्तमान में वर्त रही है। इस वर्तमान को यहाँ स्वयंसिद्ध सत् सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर चेतन में से जड़ नहीं हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक वर्तमान अंश है वह सत् है, वह अंश भी पलटकर आगे-पीछे नहीं होता। जिसने ऐसे वस्तुस्वभाव को जाना उसको अपने अकेले ज्ञायकपने की प्रतीति हुई, वही धर्म हुआ। और उसने देव-गुरु-शास्त्र को भी यथार्थरूप से माना कहा जायेगा।

तीनोंकाल के समय में तीनोंकाल के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं; कोई भी एकसमय का जो परिणाम है वह पहले नहीं था और फिर उत्पन्न हुआ, इसलिये पूर्वपरिणाम के पश्चात्रूप से वह उत्पाद-

रूप है, और उस परिणाम के समय पूर्व के परिणाम का व्यय है, —पूर्वपरिणाम का व्यय होकर वह परिणाम उत्पन्न हुआ है इसलिये पूर्वपरिणाम की अपेक्षा वही परिणाम व्ययरूप है, और तीनोंकाल के परिणाम के अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वह परिणाम उत्पन्न भी नहीं हुआ है और विनाशरूप भी नहीं है—है वैसा है अर्थात् ध्रौव्य है। इस प्रकार अनादि-अनंत प्रवाह में जब देखो तब प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावरूप है।

किसी भी वस्तु की पर्याय में फेरफार करने की उमंग सो पर्याय-बुद्धि का मिथ्यात्व है; उसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है और ज्ञेयों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव की भी खबर नहीं है। अरे भग-वान! वस्तु 'सत्' है न? तो तू उस सत् के ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा उसमें क्या करेगा? तू सत् में फेरफार करना मानेगा तो सत् तो नहीं बदलेगा किन्तु तेरा ज्ञान असत् होगा। जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसे भगवान ने केवलज्ञान में जाना है, वही वाणी द्वारा कहा गया है—नवीन नहीं कहा गया। भगवान ने तो जैसा सत् था वैसा मात्र ज्ञान किया है; वाणी जड़ है उसे भी भग-वान ने नहीं निकाला। भगवान का आत्मा अपने केवल ज्ञानपरि-णाम में वर्त रहा है, और वाणी की पर्याय परमाणुओं के परिण-मनप्रवाह में वर्त रही है, तथा समस्त पदार्थ अपने सत् में वर्त रहे हैं। ज्ञायकमूर्ति आत्मा तो जानने का कार्य करता है कि—'सत् ऐसा है।' बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मार्ग है।

भगवान कैसे हैं?—'सर्वज्ञ'—सर्व के ज्ञाता; किसी में राग-द्वेष या फेरफार करनेवाले नहीं हैं। भगवान की भाँति मेरे आत्मा का स्वभाव भी जानने का है—इस प्रकार तू भी अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा कर और पदार्थों में फेरफार करने की बुद्धि छोड़! जिसने अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा की वह अस्थिरता के राग-द्वेष का भी

ज्ञाता ही रहा। जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को माना, उसीने अरिहंतदेव को माना, उसीने आत्मा को माना, उसीने गुरु को तथा शास्त्र को माना, उसीने नवपदार्थो को माना, उसीने छह द्रव्यों को तथा उनके वर्तमान अंश को माना; उसीका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

'जानना' आत्मा का स्वभाव है। बस, जानना ही आत्मा का पुरुषार्थ है वही आत्मा का धर्म है, उसी में मोक्षमार्ग और वीतरागता है। अनंत सिद्धभगवंत भी प्रतिसमय पूर्ण जानने का ही कार्य कर रहे हैं।

ज्ञान में स्व-पर दोनों ज्ञेय हैं। 'ज्ञान ज्ञाता है'—ऐसा जाना वहाँ ज्ञान भी स्वज्ञेय हुआ। ज्ञान को रागादि का कर्ता माने या वदलनेवाला माने तो उसने ज्ञान के स्वभाव को नहीं जाना है,—स्वयं अपने को स्वज्ञेय नहीं वनाया इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। वस्तु के समस्त परिणाम अपने अपने समय में सत् हैं—ऐसा कहते ही अपना स्वभाव ज्ञायक ही है—ऐसा उसमें आ जाता है।

❀

इस गाथा में क्षेत्र का उदाहरण देकर पहले द्रव्य का त्रिकाली सत्पना वतलाया, उसके त्रिकाली प्रवाहक्रम के अंश वतलाये, और उन अंशों में (परिणामों में) अनेकतारूप प्रवाहक्रम का कारण उनका परस्पर व्यतिरेक है—ऐसा सिद्ध किया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण द्रव्य के समस्त परिणामों को स्व-अवसर में वर्तनेवाला, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-रूप वतलाया। इतनी वात पूर्ण हुई।

अव, प्रत्येक समय के वर्तमान परिणाम को लेकर उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना वतलाते हैं। पहले समय परिणामों की वात थी और अव यहाँ एक ही परिणाम की वात है। और फिर अन्त में परिणामी द्रव्य की ही वात लेकर द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वतलायेंगे।

पुनश्च, 'जिस प्रकार वस्तु का जो छोटे से छोटा (अन्तिम) अंश पूर्वप्रदेश के विनाशरूप है वही (अंश) तत्पश्चात् के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक स्वरूप भी नहीं है।) उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाश-स्वरूप है वही तत्पश्चात् के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।'

असंख्यप्रदेशी आत्मा का कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश, क्षेत्र अपेक्षा से पूर्व के प्रदेश के व्ययरूप है, स्वयं अपने क्षेत्र के उत्पादरूप है और अखण्ड क्षेत्र अपेक्षा से वही ध्रौव्य है।—यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार अनादिअनंत प्रवाहक्रम में वर्तमान प्रवर्तित कोई भी एक परिणाम पूर्व के परिणाम के व्ययरूप है, तत्पश्चात् के परिणाम की अपेक्षा से उत्पादस्वरूप है, और पहले-पीछे का भेद किये बिना सम्पूर्ण प्रवाहक्रम के अंशरूपसे देखें तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

समस्त परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात ली तब 'अपने अपने अवसर में'—ऐसा कहकर उस प्रत्येक का स्वतंत्र स्वकाल वतलाया था। और यहाँ एक परिणाम की विवक्षा लेकर बात करने से उन शब्दों का उपयोग नहीं किया; क्योंकि वर्तमान एक ही परिणाम लिया उसीमें उसका वर्तमान स्वकाल आ गया।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्वपरिणाम के अभावरूप ही है; इसलिये पूर्व के विकार का अभाव करूँ—यह बात नहीं रहती; और वर्तमान में सत्‌रूप है इसमें भी फेरफार करना नहीं रहता। ऐसा समझने पर मात्र वर्तमान परिणाम की दृष्टि से परिणाम और परि-णामी की एकता होने पर सम्यक्त्व का उत्पाद होता है, उसमें पूर्व के मिथ्यात्व का व्यय है ही, मिथ्यात्व को दूर नहीं करना पड़ता।

किसी भी परिणाम को मैं नहीं बदल सकता, मात्र जानता हूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है;—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में सम्यक्त्व-परिणाम का उत्पाद है, और उसीमें मिथ्यात्व का व्यय है ही। इसलिये मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—यह बात ही नहीं रहती। जहाँ ऐसी बुद्धि वहाँ उस समय का सत्परिणाम स्वयं ही सम्यक्त्व के उत्पादरूप और मिथ्यात्व से व्ययरूप है, तथा एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित परिणामों के अखण्डप्रवाहरूप से वह परिणाम ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है।

जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। वस्तु के त्रिकाली प्रवाह में प्रत्येक समय का अंश सत् है; वर्तमान समय का परिणाम पूर्व के कारण नहीं है किन्तु पूर्व के अभाव से ही अपनेरूप से सत् है। वह वर्तमान अंश पर से नहीं किन्तु अपने से है। प्रत्येक समय का वर्तमान अंश निरपेक्षरूप से अपने से ही उत्पाद-व्यय--ध्रौव्यरूप सत् है।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त वस्तुस्वरूप का ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हो सकता। भाई! तू क्या करेगा? जगत के तत्त्व सत् हैं, उनकी पहली पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नहीं होती, तब फिर तू उसमें क्या करेगा? तू तो मात्र ज्ञाता रह! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ मानेगा तो, वस्तु में तो कुछ भी फेरफार नहीं होगा किन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

वस्तु का वर्तमान अंश है वह सत् है;—इस प्रकार यहाँ तो वर्तमान प्रत्येक समय के परिणाम को सत् सिद्ध करना है। द्रव्य के आधार से अंश है—यह बात इस समय नहीं लेना है। यदि द्रव्य के कारण परिणाम का सत्पना हो तब तो सभी परिणाम एक समान ही हों; इसलिये द्रव्य के कारण परिणाम का सत् है ऐसा न लेकर प्रत्येक समय का परिणाम स्वयं सत् है और द्रव्य ही उस

वर्तमान परिणामरूप से वर्तता हुआ सत् है—ऐसा लिया है। प्रवाह का वर्तमान अंश उस अंश के कारण ही है। अहो! प्रत्येक समय का अकारणीय सत् सिद्ध किया है। समय समय का सत् अहेतुक है। समस्त पदार्थों के तीनोंकाल के वर्तमान का प्रत्येक अंश निर-पेक्ष सत् है; ज्ञान उसे जैसे का तैसा—यथावत्-जानता है, किन्तु बद-लता नहीं है। ज्ञान ने जाना इसलिये वह अंश वैसा है—ऐसी बात नहीं है। वह स्वयं सत् है।

वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप है, इसलिये वर्तमान परिणाम को पूर्व परिणाम की भी अपेक्षा नहीं रही, तब फिर पर-पदार्थ के कारण उसमें कुछ हो यह बात कहाँ रही? केवलीभग-वान को पहले समय केवलज्ञान हुआ इसलिये दूसरे समय वह केवल-ज्ञान रहा—ऐसा नहीं है, किन्तु दूसरे समय के उस वर्तमान परिणाम का केवलज्ञान उस समय के अंश से ही सत् है। पहले समय के सत् के कारण दूसरे समय का नहीं है। इसी प्रकार सिद्धभगवान को पहले समय की सिद्धपर्याय थी इसलिये दूसरे समय सिद्धपर्याय हुई—ऐसा नहीं है। सिद्ध में और समस्त द्रव्यों में प्रत्येक समय का अंश सत् है।

यहाँ एक अंश के परिणाम के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य में 'अपने अव-सर में'—ऐसी भाषा का उपयोग नहीं किया; क्योंकि वर्तमान प्रव-र्तित एक परिणाम की बात है, और वर्तमान में जो परिणाम वर्तता है वही उसका स्वकाल है। तीनोंकाल के प्रत्येक परिणाम का जो वर्तमान है वह वर्तमान ही उसका स्वकाल है। अपने वर्तमान को छोड़कर वह आगे-पीछे नहीं होता। इस प्रकार वर्तमान प्रत्येक परि-णाम का उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वभाव है।

❀ ❀ ❀

इस गाथा में अभीतक चार बोल आये :—

(१) द्रव्य का अखण्ड प्रवाह एक है और उसके क्रमशः होने-वाले अंश सो परिणाम हैं।

(२) उन परिणामों में अनेकता है, क्योंकि परस्पर व्यतिरेक है।

(६) तीनोंकाल के परिणामों का पूरा दल लेकर समस्त परि-णामों में सामान्यरूप से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना कहा।

(४) सम्पूर्ण प्रवाह का एक अंश लेकर प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-व्यय–ध्रौव्य कहे।

—ऐसे चार प्रकार हुए। इस प्रकार परिणाम का उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यपना निश्चित करके, अब अन्त में परिणामी द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में (परिणामों की परम्परा में) प्रवर्तमान द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण न करने से सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना।

द्रव्य के समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप हैं, और उन परिणामों के क्रम में प्रवर्तमान द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त ही है। यदि परिणाम की भाँति द्रव्य भी उत्पाद—द्रव्य—ध्रौव्ययुक्त न हो तो वह परिणामों की परम्परा में वर्त ही नहीं सकता। जो द्रव्य है सो उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप समस्त परिणामों की परम्परा में वर्तता है इससे उसके भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य हैं। परिणामों की पद्धति कही है अर्थात् जिस प्रकार सांकल की कड़ियाँ आगे—पीछे नहीं होती उसी प्रकार परिणामों का प्रवाहक्रम नहीं बदलता; जिस समय द्रव्य का जो परिणाम प्रवाहक्रम में हो उस समय उस द्रव्य का वही परि-णाम होता है—दूसरा परिणाम नहीं होता। देखो, यह वस्तु के सत्-स्वभाव का वर्णन है। वस्तु का सत्स्वभाव है, सत् उत्पाद–व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम है, और उसे भगवान द्रव्य का लक्षण कहते हैं—

'सत् द्रव्य लक्षणं।' तेरा स्वभाव जानने का है। जैसा सत् है वैसा तू जान। सत् को उलटा-सीधा करने की बुद्धि करेगा तो तेरे ज्ञान में मिथ्यात्व होगा। वस्तुयें सत् हैं और मैं उनका ज्ञाता हूँ—ऐसी श्रद्धा होने के पश्चात् अस्थिरता का विकल्प उठता है, किन्तु उसमें मिथ्यात्व का जोर नहीं आता। इसलिये ऐसी ज्ञान और ज्ञेय की श्रद्धा के बल से उस अस्थिरता का विकल्प भी टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान होगा ही!—ऐसी यह अलौकिक बात है।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म, परम सत्य एवं गम्भीर है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा पूर्ण जाना, और वैसा ही वाणी में आ गया। जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा जानकर माने तो ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हो; वस्तु के स्वभाव को यथावत् न जाने तथा अन्य रीति से माने तो सम्यक्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धा नहीं होते, और उनके बिना व्रत-तपादि सच्चे नहीं होते। वस्तु के स्वभाव की स्थिति क्या है और उसके नियम कैसे सत्य हैं, उसका यह वर्णन है। इसे समझाने के लिये ज्ञान में एकाग्र होने की आवश्यकता है।

देखो, अभीतक क्या कहा गया है? प्रत्येक चेतन और जड़पदार्थ स्वयं सत् है; उसमें एक-एक समय में परिणाम होता है; वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। मूल वस्तु त्रिकाल है, वह वस्तु असंयोगी—स्वयंसिद्ध है, वह किसी से निर्मित नहीं है और न कभी उसका नाश होता है; जब देखो तब वह सत्रूप से वर्तमान वर्त रही है।

प्रत्येक समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-होता है उसमें वस्तु वर्त रही है। प्रत्येक द्रव्य में तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। जैसे—स्वर्ण के सौ वर्ष लिये जायें तो उन सौ वर्षों

में हुई कड़ा, कुंडल, हार इत्यादि समस्त अवस्थाओं का एक पिण्ड सोना है; उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य तीनकाल के समस्त परिणामों का पिण्ड है। वे परिणाम क्रमशः—एक के बाद एक होते हैं। तीन-काल के समस्त परिणामों का प्रवाह वह द्रव्य का प्रवाहक्रम है, और उस प्रवाहक्रम का एक समय का अंश सो परिणाम है। तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं। उस प्रत्येक परिणाम में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–ऐसे तीन प्रकार सिद्ध किये हैं। अपने अपने निश्चित् अवसर में प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय-ध्रौव्यवाला है। किसी से किसी के परिणाम का उत्पाद हो या कोई परिणाम आगे–पीछे हो—यह बात तो यहाँ से कहीं दूर उड़ गई; कोई परिणाम आगे–पीछे नहीं होते इस निर्णय में तो सर्वज्ञता का निर्णय और ज्ञायक द्रव्य की दृष्टि हो जाती है।

आत्मा में वर्तमान जो ज्ञानअवस्था है उस अवस्था में ज्ञानगुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी तब उसमें वर्तमान वर्तेगा। और तीसरी अवस्था के समय उसमें भी वर्तमान वर्तेगा। इस प्रकार दूसरी–तीसरी–चौथी–सभी अवस्थाओं के प्रवाह का पिण्ड सो ज्ञान-गुण है। ऐसे अनन्तगुणों का पिण्ड सो द्रव्य है। द्रव्य के प्रतिसमय जो परिणाम होते हैं वे परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के अभाव की अपेक्षा से व्ययरूप हैं, और अखण्ड प्रवाह में वर्तने-वाले अंशरूप से ध्रौव्य हैं। ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम है वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है; और ऐसे स्वभाव में द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है इसलिये द्रव्य स्वयं भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाला है–ऐसा अनुमोदन करना।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई–नित्य है। यदि वस्तु अकेली 'नित्य' ही हो तो उसमें सुख–दुःख इत्यादि कार्य नहीं हो सकते; और यदि वस्तु एकान्त 'पलटती' ही हो तो वह त्रिकालस्थायी नहीं रह सकती,

दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अभाव हो जायेगा। इसलिये वस्तु अकेली नित्य, या अकेली पलटती नहीं है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इस प्रकार नित्य पलटती हुई वस्तु कहो या 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्' कहो, उसका यह वर्णन है। अल्प से अल्पकाल में होनेवाले परिणाम में वर्तता–वर्तता द्रव्य नित्यस्थायी है। उसके प्रत्येक परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है-यह बात हो गई है। और वह द्रव्य स्वयं भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। —यह बात चल रही है।

समस्त पदार्थ सत् हैं। पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही उसका सत्-पना आ जाता है। पदार्थों का सत्पना पहले (७८ वीं गाथा में) सिद्ध कर चुके हैं। पदार्थ सत् हैं और सत् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यसहित है। कोई भी वस्तु हो वह वर्तमान–वर्तमानरूप से वर्तती रहेगी न ? कहीं भूत या भविष्य में नहीं रहेगी। वस्तु तो वर्तमान में ही वर्तती है और वह प्रत्येक समय का वर्तमान भी यदि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य-वाला न हो तो वस्तु का त्रिकाल परिवर्तनपना सिद्ध नहीं होगा। इसलिये प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाले परिणाम में ही वस्तु वर्तती है। जिस प्रकार द्रव्य त्रिकाली सत् है उसी प्रकार उसके तीनोंकाल के परिणाम भी प्रत्येक समय का सत् है। प्रत्येक परिणाम को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् सिद्ध करके, यहाँ परिणाम में वर्तनेवाले द्रव्य को उत्पाद-व्यय–ध्रौव्ययुक्त सिद्ध करते हैं।

द्रव्य का एक वर्तमान प्रवर्तित परिणाम अपने से उत्पादरूप है, अपने पहले के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप है और अखण्ड प्रवाह में वह ध्रौव्य है।—इस प्रकार परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है और उस परिणाम में द्रव्य वर्तता है इसलिये द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला ही है। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने से, उस परिणाम में वर्तनेवाले परिणामी के उत्पाद-व्यय–

ध्रौव्य सिद्ध हो ही जाते हैं इसलिये कहा है कि द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना। अनुमोदना अर्थात् रुचिपूर्वक मानना, सानंद संमत करना।

यदि समय-समय के परिणाम की यह बात समझ ले तो पर में खटपट करने का अहंकार न रहे और अकेले रागादि परिणामों पर भी दृष्टि न रहे किन्तु परिणामी ऐसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि हो जाये; और द्रव्यदृष्टि होने से आनंद का अनुभव हुए बिना न रहे। इसलिये कहा है कि....'सानंद संमत करना।'

जिस प्रकार त्रिकाली सत् में जो चैतन्य है वह चैतन्य ही रहता है और जड़ है वह जड़ ही रहता है; चैतन्य मिटकर जड़ नहीं होता और न जड़ मिटकर चैतन्य होता है। उसी प्रकार एक समय के सत् में भी—जो परिणाम जिस समय में सत् है वह परिणाम उसी समय होता है-आगे-पीछे नहीं होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् है उसी प्रकार वर्तमान भी सत् है। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर अन्यरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार वर्तमान सत् पलटकर भी भूत या भविष्यरूप नहीं हो जाता। तीनों काल के समय समय के वर्तमान परिणाम अपना स्वसमय (स्व-काल) छोड़कर पहले या पीछे के समय नहीं होते। जितने तीन काल के समय हैं उतने ही द्रव्य के परिणाम हैं; उनमें जिस समय का जो वर्तमान परिणाम है वह परिणाम अपना वर्तमानपना छोड़कर भूत या भविष्य में नहीं होता। बस! प्रत्येक परिणाम अपने अपने काल में वर्तमान सत् है। उस सत् को कोई बदल नहीं सकता। सत् को बदलना माने वह मिथ्यादृष्टि है; उसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति नहीं है। जिस प्रकार चेतन को बदलकर जड़ नहीं किया जा सकता उसी प्रकार द्रव्य के त्रिकाली प्रवाह में उस-उस समय के वर्तमान परिणाम को आगे-पीछे नहीं किया जा सकता। अहो! लोगों को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है इसलिये ज्ञेयों के ऐसे व्यवस्थितस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती।

जिस प्रकार वस्तु अनादि–अनंत हैं उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का वर्तमान भी प्रवाहरूप से अनादि अनंत है। वस्तु और वस्तु का वर्तमान—वह पहले–पीछे नहीं है। वस्तु का वर्तमान कब नहीं होता? कभी भी वर्तमान बिना वस्तु नहीं होती। दोनों ऐसे के ऐसे अनादि अनंत हैं। तीनोंकाल में से एक भी समय के वर्तमान को निकाल दें तो त्रिकाली वस्तु ही सिद्ध नहीं हो सकती। तीनों काल के वर्तमान का पिण्ड सो सत् द्रव्य है, और उन तीनों काल का प्रत्येक वर्तमान परिणाम अपने अवसर में सत् है, वह अपने से उत्पादरूप है, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड वस्तु के वर्तमानरूप से ध्रौव्यरूप है। ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम सो सत् है और वह द्रव्य का स्वभाव है। ऐसे सत् को कौन बदल सकता है? सत को जैसे का तैसा जान सकता है किन्तु उसे कोई बदल नहीं सकता।

वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का जैसा स्वभाव है वैसा ज्ञान जानता है। अंश को अंशरूप से जानता है और त्रिकाली को त्रिकालीरूप से जानता है;—ऐसा स्वभाव जानने पर अकेले अंश की रुचि न रहने से त्रिकाली स्वभाव की रुचि की ओर श्रद्धा ढल जाती है। अंश को अंशरूप से और अंशी को अंशीरूप से श्रद्धा में लेने पर श्रद्धा का सारा बल अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य–गुण की ओर ढल जाता है। यही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य, गुण और पर्याय–यह तीनों स्वज्ञेय हैं। एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय का पिण्ड वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। उसमें पर्याय एक समयपर्यन्त की है–ऐसा जानने से उस पर एक समयपर्यंत का ही बल रहा; और द्रव्य भी त्रिकाली जानने से उस पर त्रिकाली बल आया, इसलिये उसीकी मुख्यता हुई और उसकी रुचि में श्रद्धा का बल ढल गया। इस प्रकार स्वज्ञेय को जानने से सम्यक्त्व आ जाता

है। इसलिये इस ज्ञेय-अधिकार का दूसरा नाम सम्यक्त्व-अधिकार भी है।

स्वज्ञेय परज्ञेय से बिलकुल भिन्न है। यहाँ राग भी स्वज्ञेय में आता है। समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है वहाँ स्वभावदृष्टि में राग की गौणता हो जाती है, इसलिये वहाँ तो 'राग आत्मा में होता ही नहीं, राग जड़ के साथ तादात्म्यवाला है'—ऐसा कहा जाता है। वहाँ दृष्टि अपेक्षा से राग को पर में डाल दिया और द्रव्य की दृष्टि कराई। और यहाँ, इस प्रवचनसार में ज्ञान अपेक्षा से कथन है, इसलिये सम्पूर्ण स्वज्ञेय बताने के लिये राग को भी स्वज्ञेय में लिया है। दृष्टि अपेक्षा से राग पर में जाता है और ज्ञान अपेक्षा से वह स्वज्ञेय में आता है; परन्तु राग में ही स्वज्ञेय पूरा नहीं हो जाता। रागरहित द्रव्य-गुण-स्वभाव भी स्वज्ञेय है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को स्वज्ञेयरूप से जाना वहाँ राग में से एकत्वबुद्धि छूटकर रुचि का बल द्रव्य की ओर ढल गया। अकेले राग को सम्पूर्ण तत्त्व स्वीकार करने से स्वज्ञेय सम्पूर्ण प्रतीति में नहीं आता था। और द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पूर्ण स्वज्ञेय को प्रतीति होने से उस प्रतीति का बल त्रिकाली की ओर बढ़ जाता है, इसलिये त्रिकाली की मुख्यता होकर उस ओर रुचि का बल ढलता है। इस प्रकार इसमें भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

स्वद्रव्य-गुण-पर्याय यह सब मिलकर स्वज्ञेय है; राग भी स्वज्ञेय है। किन्तु ऐसा जानने से रुचि का बल राग से हटकर अंतर में ढल जाता है। त्रिकाली तत्त्व को भूलकर मात्र प्रगट अंश को ही स्वीकार करती थी वह मिथ्यारुचि थी; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को ज्ञेयरूप जानकर अव्यक्त-शक्तिरूप अंतरस्वभावोन्मुख हो जाता है तभी स्वज्ञेय को पूर्ण प्रतीति में लिया है और तभी उसने भगवान कथित द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप सुना—ऐसा कहा जाता है।

जैसे—गुड़ को गुड़रूप से जाने और विष को विषरूप से जाने तो वह ज्ञान बराबर है, किन्तु गुड़ को विषरूप से जाने और विष को गुड़रूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। उसी प्रकार द्रव्य-गुण पर्याय तीनों मिलकर एक समय में सम्पूर्ण स्वज्ञेय है, उसमें द्रव्य को द्रव्यरूप से जाने, गुण को गुणरूप से जाने और पर्याय को पर्यायरूप से जाने तो ज्ञान सच्चा हो; किन्तु जैसा है वैसा न जाने या क्षणिक पर्याय को ही सम्पूर्ण तत्त्व मान ले अथवा तो क्षणिक पर्याय को सर्वथा हो न जाने—तो वह ज्ञान सच्चा नहीं होता। पदार्थ के सच्चे ज्ञान बिना श्रद्धा भी सच्ची नहीं होती, और ज्ञान-श्रद्धान बिना सम्यक्चारित्र, वीतरागता या मुक्ति नहीं होती।

त्रिकाली तत्त्व को रुचि की ओर उन्मुख होकर सम्पूर्ण स्वज्ञेय प्रतीति में आया तब परज्ञेय को जानने को ज्ञान की यथार्थ शक्ति विकसित हुई। ज्ञान की वर्तमान दशा रागसन्मुख रुककर उसे सम्पूर्ण स्वज्ञेय मानता थो वह ज्ञान मिथ्या था, उसमें स्व-परप्रकाशक ज्ञान-सामर्थ्य नहीं था। और ज्ञान की वर्तमानदशा में अन्तर की सम्पूर्ण वस्तु को ज्ञेय बनाकर उस ओर उन्मुख हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हुआ, और उसमें स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई।

परिणाम के प्रवाहक्रम में वर्तनेवाला द्रव्य है—ऐसा निश्चित् किया वहाँ रुचि का बल उस द्रव्य की ओर ढलने से रुचि सम्यक् हो गई। उस पर्याय में राग का अंश वर्तता है वह भी ज्ञान के ख्याल से बाहर नहीं है, ज्ञान उसे स्व-ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वज्ञेय को (द्रव्य-गुण को तथा विकारी-अविकारी पर्यायों को) स्वीकार करने से रुचि तो द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर उन्मुख होकर सम्यक् हो गई और ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ज्ञान सच्चा हुआ।—ऐसा इस ज्ञेय अधिकार का वर्णन है।

ज्ञेय के तीनों अंशों को (—द्रव्य-गुण-पर्याय को) स्वीकार करे

वह ज्ञान सम्यक् है, एक अंश को ही (राग को ही) स्वीकार करे तो वह ज्ञान मिथ्या है, और सर्वथा रागरहित स्वीकार करे तो वह ज्ञान भी मिथ्या है; क्योंकि रागपरिणाम भी साधक के वर्तते हैं, उन रागपरिणामों को स्व-ज्ञेयरूप से न जाने तो रागपरिणाम में वर्तनेवाले द्रव्य को भी नहीं माना।

रागपरिणाम भी द्रव्य के तीनकाल के परिणाम की पद्धति में आ जाता है; रागपरिणाम कहीं द्रव्य के परिणाम की परम्परा से पृथक् नहीं है। तीनों काल के परिणामों की परम्परा में वर्त कर ही द्रव्य स्थित है।

निगोद या सिद्ध-कोई भी परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, और उस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है। परिणाम की जो रीति है—जो क्रम है--जो परम्परा है—जो स्वभाव है, उसमें द्रव्य अवस्थित है। वह द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामस्वभाव का अतिक्रम नहीं करता। यहाँ 'स्वभाव' कहने से शुद्ध परिणाम ही नहीं समझना, किन्तु विकारी या अविकारी समस्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है, और वह स्वज्ञेय में आ जाता है। और जो ऐसा जानता है उसे शुद्ध-परिणाम की उत्पत्ति होने लगती है। स्वज्ञेय में पर-ज्ञेय नहीं है और पर-ज्ञेय में स्वज्ञेय नहीं है—ऐसा जानने में ही वीतरागी श्रद्धा आ जाती है। क्योंकि मेरा स्व-ज्ञेय पर-ज्ञेयों से भिन्न है—ऐसा निर्णय करने से किसी भी पर-ज्ञेय के अवलम्बन का अभिप्राय नहीं रहा इसलिये स्व-द्रव्य के अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा हुई। सम्पूर्ण द्रव्य सो परिणामी और उसका अंश सो परिणाम; उसमें पूर्ण परिणामी की अंतरदृष्टि विना परिणाम का सच्चा ज्ञान नहीं होता। परिणामों की परम्परा को द्रव्य नहीं छोड़ता किन्तु उस परम्परा में ही वर्तता है; —इसलिये लक्ष का वल कहाँ गया!—द्रव्य पर। इस प्रकार इसमें भी द्रव्यदृष्टि ही आ जाती है।

द्रव्य तो अनंत शक्ति का त्रिकाली पिण्ड है, और परिणाम तो एकसमयपर्यन्त का अंश है;—ऐसा जाना वहाँ श्रद्धा का बल अनंत शक्ति के पिण्ड की ओर ढल गया इससे द्रव्य की प्रतीति हुई, और द्रव्य-पर्याय दोनों का यथार्थ ज्ञान हुआ।

प्रत्येक वस्तु अपने परिणामस्वभाव में वर्त रही है, उस परिणाम के तीन लक्षण (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) हैं; इसलिये उस परिणाम में प्रवर्तित वस्तु में भी यह तीनों लक्षण आ जाते हैं, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व परिणामस्वभाव से पृथक् नहीं है। वस्तु 'है' ऐसा कहते ही उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आ जाते हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बिना 'वस्तु है'—ऐसा सिद्ध नहीं होता। परिणाम 'है' ऐसा कहने से वह परिणाम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। 'अस्तित्व (—सत्)' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के बिना नहीं होता। इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले यथार्थ श्रवण करके वस्तु को बराबर जाने कि—'यह ऐसा ही है' तो ज्ञान निःशंक हो, और ज्ञान निःशंक हो तभी अंतर में उसका मंथन करके निर्विकल्प अनुभव करे। किन्तु जहाँ ज्ञान ही मिथ्या हो और 'ऐसा होगा या वैसा'—ऐसी शंका में भूलता हो वहाँ अन्तर में मंथन कहाँ से होगा? निःशंक ज्ञानरहित मंथन भी मिथ्या होता है, अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा होती है। पहले वस्तु-स्थिति क्या है वह बराबर ध्यान में लेना चाहिये। वस्तु को बराबर ध्यान में लिये बिना किसका मंथन करेगा?

वस्तु परिणाम का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु परिणाम का उल्लंघन करे तब तो 'सत्' का ही उल्लंघन करे, इसलिये वस्तु 'है' ऐसा सिद्ध न हो। वस्तु तीनों काल के परिणाम के प्रवाह में वर्तती है।

अहो, यह तो सम्पूर्ण ज्ञेय का पिण्ड प्रतीति में लेने का मार्ग

कहो अथवा पूर्ण ज्ञायकपिण्ड की दृष्टि कहो; सम्यक् नियतिवाद कहो या यथार्थ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो, वीतरागता कहो अथवा तो धर्म कहो;—वह सब इसमें आ जाता है ।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही यह (उपरोक्तानुसार) है; ऐसा वस्तुस्वभाव आनंदपूर्वक मानना—संमत करना। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने उसे अपूर्व आनंद प्रगट हुए बिना न रहे। जहाँ वस्तु को त्रिलक्षण जाना वहाँ आत्मा स्वयं सम्यक् स्वभाव में ढले विना नहीं रहता;-वस्तु सम्यक्-स्वभावरूप परिणमित होने पर अपूर्व आनंद का अनुभव होता ही है। इसलिये यहाँ कहा है कि ऐसे वस्तुस्वभाव को आनंद से मान्य करना ।

देखो, उस-उस परिणाम का वस्तु उल्लंघन नहीं करती, इसलिये दृष्टि कहाँ गई ? वस्तु पर दृष्टि गई; परिणाम-परिणामी की एकता हुई; इसलिये सम्पूर्ण सत् एकाकार हो गया,—सम्पूर्ण स्वज्ञेय अभेद हो गया। ऐसे स्वज्ञेय को जाने और माने वहाँ वस्तुस्वभाव की सम्यक्प्रतीति और अपूर्व आनंद का अनुभव हुए विना नहीं रहता।

जिस प्रकार केवलज्ञानी लोकालोक—ज्ञेय को सत् रूप से जानता है, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी उसे ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है, और उसे जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को भी वह स्वज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। वहाँ उसकी रुचि स्वभाववान् ऐसे अंतरद्रव्य की ओर ढलती है, उस रुचि के वल से निर्विकल्पता हुए विना नहीं रहती; निर्विकल्पता में आनंद का अनुभव भी साथ ही होता है !

प्रश्न —कितने काल में कितने जीव मोक्ष में जाते हैं-ऐसी तो कोई वात इसमें नहीं आई ?

उत्तर —इतने काल में इतने जीव मोक्ष जाते हैं-ऐसी गिनती की यहाँ मुख्यता नहीं है, किन्तु मोक्ष कैसे हो ? उसकी मुख्य वात है। स्वयं ऐसे यथार्थ स्वभाव को पहिचाने तो अपने को सम्यक्त्व

और वीतरागता हो, और मोक्ष हो जाये। आत्मा का मोक्ष कब होता है—ऐसी काल की मुख्यता नहीं है, किन्तु आत्मा का मोक्ष किस प्रकार होता है यही मुख्य प्रयोजन है और इसीकी यह बात चल रही है।

जिस प्रकार सत् है उसी प्रकार स्वीकार करे तो ज्ञान सत् हो और शांति आये। इस गाथा में दो सम-अंक [९९] हैं और वह भी दो नौ। नव प्रकार के क्षायिकभाव हैं इसलिये नव का अंक क्षायिकभाव सूचक है और दो नव इकट्ठे हुए इसलिये समभाव—वीतरागता बतलाते हैं;—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र-दोनों साथ आ जायें ऐसी अपूर्व बात है। अंक तो जो है सो है, किन्तु यहाँ अपने भाव का आरोप करना है न!

वर्तमान—वर्तमान प्रवर्तित परिणाम में वस्तु वर्त रही है, इसलिये सम्पूर्ण वस्तु ही वर्तमान में वर्तती है। वह वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-वाली है। यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहकर सत् सिद्ध करते हैं।

आत्मा सत्, जड़ सत्, एक द्रव्य के अनंत गुण सत्, तीन काल के स्व-अवसर में होनेवाले परिणाम सत्, प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्! बस, इस सत् में कोई फेरफार नहीं होता।—ऐसा स्वीकार किया वहाँ 'मिथ्यात्व को बदलकर सम्यक्त्व करूँ'—यह बात नहीं रही। क्योंकि जिसने ऐसा स्वीकार किया उसने अपने ज्ञायकभाव को ही स्वीकार किया और वह जीव द्रव्यस्वभावोन्मुख हुआ वहाँ वर्तमान परिणाम में सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, और उस परिणाम में पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का तो अभाव ही है। पूर्व के तीव्र पापपरिणाम वर्तमान परिणाम में बाधक नहीं होते, क्योंकि वर्तमान में उनका अभाव है। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना उसको वह विपरीत मान्यता बाधक होती है, किन्तु पूर्व के पाप तो उसको भी बाधक नहीं हैं।

'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना उसने द्रव्य को त्रिलक्षण नहीं जाना। यदि त्रिलक्षण द्रव्य के वर्तमान उत्पादपरिणाम में पूर्व परिणाम का व्यय है, इसलिये 'पूर्व परिणाम बाधा देते हैं' ऐसा वह न माने, किन्तु प्रतिसमय के वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र सत् जाने और उसकी दृष्टि, वे परिणाम जिसके हैं ऐसे द्रव्य पर जायें; इसलिये द्रव्यदृष्टि में उसे वीतरागता का ही उत्पाद होता जाये।—इस प्रकार इसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वीतराग या राग, ज्ञान या अज्ञान, सिद्ध या निगोद किसी भी एकसमय के परिणाम को यदि निकाल दें तो द्रव्य का सत्पना ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उस-उस समय के परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है, इसलिये अपने क्रमबद्धपरिणामों के प्रवाह में वर्तमान वर्त रहे द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही आनंद से मानना।

स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है—यह बात सिद्ध करने के लिये प्रथम तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम कहकर स्वभाव सिद्ध किया, और उस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है—ऐसा अभी सिद्ध किया।

पहले परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने के लिये प्रदेशों का उदाहरण था, वह परिणाम की बात पूर्ण हुई। और अब द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर समझायेंगे।

पहले 'वर्तमान' को सिद्ध किया और फिर उस 'वर्तमान में वर्तनेवाला' सिद्ध किया। परिणाम किसके? परिणामी के। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त वर्तमान परिणाम और उस परिणाम में वर्तनेवाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त द्रव्य वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। इसकी प्रतीति सो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति है। सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति करने से रुचि का बल वर्तमान अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य की ओर ढलता है—यही सम्यक्दर्शन है।

परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् करने से भी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योंकि द्रव्य अपने परिणामस्वभाव को नहीं छोड़ता।

परिणाम स्वभाव में कौन वर्तता है?—द्रव्य।

परिणाम को कौन नहीं छोड़ता?—द्रव्य।

इसलिये ऐसा निश्चित् करने से दृष्टि द्रव्य पर जाती है, और द्रव्य-दृष्टि होते ही परिणाम में सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि में ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ आ जाता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व दूर करने के लिये और सम्यक्त्व प्रगट करने के लिये दूसरा कोई अलग पुरुषार्थ करना नहीं रहता। द्रव्यदृष्टि ही सम्यक्‌दृष्टि है।

❀

जिसे धर्म करना हो उसे कैसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए—उसकी यह बात है। धर्म आत्मा की पर्याय है इसलिये वह आत्मा में ही होती है। आत्मा का धर्म पर से नहीं होता और न पर के द्वारा ही होता है। और पर्याय का धर्म पर्याय में से नहीं होता किन्तु द्रव्य में से होता है; धर्म तो पर्याय में ही होता है किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय सन्मुख देखने से या पर्याय का आश्रय करने से) धर्म नहीं होता, किन्तु द्रव्य की सन्मुखता से पर्याय में धर्म होता है। पर का तो आत्मा में अभाव है इसलिये परसन्मुख देखने से धर्म नहीं होता।

अब, जिसे अपनी अवस्था में धर्म करना है उसे अधर्म को दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है। देखो, इसमें 'धर्म करना है' ऐसा कहने से उसमें नवीन पर्याय के उत्पाद की स्वीकृति आ जाती है; 'अधर्म को दूर करना है'—उस में पूर्व पर्याय के व्यय की स्वीकृति आ जाती है; और 'आत्मा को

अखण्ड बनाये रखना है'—इसमें अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य का स्वीकार आ जाता है। इस प्रकार धर्म करने की भावना में वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव की स्वीकृति आ जाती है। यदि वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्म की उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे। और वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी यदि काल के छोटे से छोटे भाग में न हों तो एक समय में अधर्म दूर करके धर्म न हो सके। इसलिये धर्म करनेवाले को वस्तु को प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाली जानना चाहिये।

द्रव्य-गुण नित्य हैं और पर्याय क्षणिक है; उन तीनों को जानकर नित्यस्थायी द्रव्य की ओर वर्तमान पर्याय को उन्मुख किये बिना धर्म नहीं होता। वस्तु में अवस्था तो नवीन-नवीन होती ही रहती है। यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो? और यदि पुरानी अवस्था का अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो? तथा परिणामों में अखण्डरूप से ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थित कहाँ रहे? इसलिये वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य यह तीनों जानना चाहिये। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य यह लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है; तथा परिणाम में वस्तु वर्तती है इसलिये वह वस्तु भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है।

कोई भी परिणाम लो तो प्रवाह की अखण्ड धारा में वह ध्रौव्य है, अपने स्वकाल अपेक्षा से उत्पादरूप है और पूर्व परिणाम अपेक्षा से व्ययरूप है। इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है। परिणाम किसी अन्य पदार्थ के कारण नहीं होते किन्तु वे स्वयं अपने अवसर में सत् हैं। भगवान की वीतरागी मूर्ति के कारण या गुरु के उपदेश के कारण जीव को राग के अथवा ज्ञान के परिणाम हुए—ऐसा नहीं है, तथा पर जीव दुःखी है इसलिये अपने को अनुकम्पा के भाव उत्पन्न हुए

ऐसा भी नहीं है। किन्तु जीव के प्रवाहक्रम में उस–उस भाववाले परिणाम सत् हैं। किसी भी द्रव्य के परिणाम की अखण्ड धारा में एक भी समय का खण्ड नहीं पड़ता। यदि इस प्रकार परिणामों को जाने तो उन परिणामों के प्रवाह में प्रवर्तमान द्रव्य को भी पहिचान ले, क्योंकि अपने परिणाम के स्वभाव को कोई द्रव्य नहीं छोड़ता–उल्लंघन नहीं करता।

ऐसा वस्तुस्वभाव समझे बिना कहीं बाहर से धर्म नहीं आ जायेगा। जैसे—लकड़ी के भारे बेचने से लखपति नहीं हुआ जा सकता किन्तु हीरा–माणिक की परख करना सीखे तो उसके व्यापार से लखपति होता है। (यह तो दृष्टान्त है।) उसी प्रकार अंतर के चैतन्य–हीरे को परखने की कला में ही धर्म की कमाई हो सकती है। इसके अतिरिक्त किन्हीं बाह्य क्रिया–काण्डों से या शुभराग से धर्म की कमाई नहीं होती। देखो, यह तो द्रव्यानुयोग का सूक्ष्म विषय है, इसलिये अन्तर में सूक्ष्म दृष्टि करे तो समझ में आ सकता है।

वस्तु में जिस काल में जो परिणाम होता है वह सत् है; तीन काल के परिणाम अपने अपने काल में सत् हैं और ऐसे परिणामों में द्रव्य वर्तमान वर्त रहा है। वह द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन भिन्न भिन्न लक्षण नहीं हैं किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीनों मिलकर द्रव्य का एक लक्षण है।

भाई! अपने ज्ञान में तू ऐसा निर्णय कर कि द्रव्य में जिस समय जो परिणाम है उस समय वही सत् है, उसका मैं ज्ञाता हूँ, उसमें कोई फेरफार करनेवाला नहीं हूँ।—ऐसा जानने से पर्याय के राग का स्वामित्व और अंशबुद्धि दूर हो जाती हैं और ध्रौव्य के लक्ष से सम्यक्त्व एवं वीतरागता होती है–यही धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है; उस भिन्न-भिन्न द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य द्वारा उस–उस द्रव्य की सत्ता पहिचानी जाती है। एक

द्रव्य के उत्पाद–द्रव्य–ध्रौव्य द्वारा दूसरे द्रव्य की सत्ता नहीं जानी जाती। शरीर में रोटी नहीं आई उस परिणाम द्वारा पुद्गल द्रव्य की सत्ता जानी जाती है, किन्तु उसके द्वारा जीव के धर्मपरिणाम नहीं पहिचाने जा सकते। रोटी नहीं आई वहाँ पुद्गल द्रव्य ही अपनी परिणामधारा में वर्तता हुआ उस परिणाम द्वारा लक्षित होता है और उस समय आत्मा अपने ज्ञानादि परिणामों द्वारा लक्षित होता है। जिस द्रव्य के जो परिणाम हों उनके द्वारा उस द्रव्य को पहिचानना चाहिए; उसके बदले एक द्रव्य के परिणाम दूसरे द्रव्य ने किये–ऐसा जो मानता है उसने वस्तु के परिणामस्वभाव को नहीं जाना अर्थात् सत् को ही नहीं जाना है। वस्तु सत् है और सत् का लक्ष उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है, इसलिये वस्तु में स्वभाव से ही प्रति-समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते रहते हैं, तो दूसरा उसमें क्या करेगा? –या तो ज्ञाता रहकर वीतरागभाव करेगा, या फेरफार करने का अभिमान करके मिथ्याभाव करेगा, किन्तु पदार्थ में तो कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता।

'जीव के व्रत करने के भावों के कारण द्वारिका नगरी जलने से बच गई, और कोई व्रत करनेवाला नहीं रहा इसलिये द्वारिका नगरी जल गई'—ऐसा जो मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं है। अथवा तो—किसी जीव के क्रोध के कारण द्वारिका नगरी जल गई—ऐसा भी नहीं है। द्वारिका नगरी का प्रत्येक पुद्गल अपने परिणाम की धारा में वर्त रहा द्रव्य है। अपने प्रवाहक्रम में अपने स्वकाल में उसके परिणाम हुए हैं। और व्रत या क्रोधादि जीव के परिणाम हुए उसमें वह जीवद्रव्य वर्तता है। समस्त द्रव्य अपने अपने परिणाम में भिन्न-भिन्न वर्तते हैं। उनमें एक के परिणाम के कारण दूसरे के परिणाम हों या रुकें—ऐसा माननेवाला मूढ़ है; भगवान कथित त्रिलक्षण वस्तुस्वभाव को उसने नहीं जाना है।

वस्तु प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करेगी या पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करने जायेगी? परवस्तु भी अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। वस्तु अपने वर्तमान परिणाम का उल्लंघन करके दूसरे के परिणाम करने जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता। निमित्त के बल से उपादान के परिणाम हों यह बात इसमें कहीं नहीं रहती। प्रत्येक वस्तु स्वय नित्य परिणामी स्वभाववाली है—'परिणमन करता हुआ-परिणमन करता हुआ ही नित्य' स्वभाव है। ऐसे स्वभाव में सदैव विद्यमान वस्तु स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित है —ऐसा सानंद मानना-अनुमोदन करना।

❀

अब, मोतियों के हार का दृष्टान्त देकर वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं :—

जिस प्रकार—'जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोती के हार में, अपने अपने स्थान में प्रकाशित समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रगट होने से और पहले-पहले के मोती प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता डोरा अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है....'

हार में एक-दो मोती नहीं हैं किन्तु अनेक मोतियों का हार है। और वह हार जैसा-तैसा नहीं पड़ा है किन्तु 'लटकता' हुआ लिया है। १०८ मोतियों का हार लिया जाये तो उसमें सभी मोती अपने अपने स्थान में प्रकाशित हैं और पीछे-पीछे के स्थान में पीछे-पीछे का मोती प्रकाशित होता है, इसलिये उन मोतियों की अपेक्षा से हार का उत्पाद है। तथा एक के बाद दूसरे मोती को लक्ष में लेने से पहले का मोती लक्ष में से छूट जाता है इसलिये पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नहीं होता इस अपेक्षा से हार का व्यय है। और सभी मोतियों में परस्पर सम्बन्ध जोड़नेवाला अखण्ड डोरा होने

से हार ध्रौव्यरूप है।—इस प्रकार हार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिल-क्षणवाला निश्चित् होता है। हार का प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में है; पहला मोती दूसरे नहीं होता, दूसरा मोती तीसरे नहीं होता। जो जहाँ है वहाँ वही है; पहले स्थान में पहला मोती है, दूसरे स्थान में दूसरा मोती है, और हार का अखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोती की माला फेरते समय पीछे-पीछे का मोती अँगुली के स्पर्श से आता जाता है उस अपेक्षा से उत्पाद, पहले पहले का मोती छूटता जाता है उस अपेक्षा से व्यय, और माला के प्रवाहरूप से प्रत्येक मोती में वर्तती हुई माला ध्रौव्य है। इस प्रकार उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इस प्रकार दृष्टान्त कहा, अब सिद्धान्त कहते हैं :—

'मोती के हार की भाँति, जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य में, अपने अपने अवसरों में प्रकाशित होते हुए (प्रगट होते हुए) समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होने से और पहले पहले के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित (-स्थायी) होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

दृष्टान्त में अमुक लम्बाईवाला हार था, सिद्धान्त में नित्यवृति वाला द्रव्य है।

दृष्टान्त में लटकता हार था, सिद्धान्त में परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

दृष्टान्त में मोतियों का अपना अपना स्थान था, सिद्धान्त में परिणामों का अपना-अपना अवसर है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव वाला संपूर्ण द्रव्य सत् है, उसमें कहीं फेरफार नहीं होता।—इस प्रकार सम्पूर्ण सत् लक्ष में आये विना ज्ञान में धैर्य नहीं होता। जिसे पर में कहीं फेरफार करने की बुद्धि है

उसका ज्ञान अधीर-आकुल-व्याकुल है, और सत् जानने से कहीं भी फेरफार की बुद्धि नहीं रही इसलिये ज्ञान धीर होकर अपने में स्थिर हुआ–ज्ञातारूप से रह गया। ऐसे का ऐसा संपूर्ण द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से सत् पड़ा है–इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जाने से सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हुआ; और तत्पश्चात् भी उस द्रव्य की सन्मुखता से क्रमशः वीतरागता की वृद्धि होती जाती है।–ऐसा धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य–स्थायी है; नित्य–स्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भाँति सदैव परिणमित होता है; उसके परिणाम अपने–अपने अवसर में प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार माला में मोतियों का क्रम निश्चित जमा हुआ है; माला फिराने से वह क्रम उल्टा–सीधा नहीं होता। उसी प्रकार द्रव्य के तीनकाल के परिणामों का निश्चित स्व-अवसर है, द्रव्य के तीनकाल के परिणामों का अपना–अपना जो अवसर है उस अवसर में ही वे होते हैं; आगे पीछे नहीं होते। ऐसा निश्चय करते ही ज्ञान में वीतरागता होती है। यह निश्चित करने से अपना वीर्य पर से विमुख होकर द्रव्योन्मुख हो गया, पर्यायमूढ़ता नष्ट हो गई, और द्रव्य की सन्मुखता से वीतरागता की उत्पत्ति होने लगी। सामनेवाले पदार्थ के परिणाम उसके अवसर के अनुसार और मेरे परिणाम मेरे अवसर के अनुसार;—ऐसा निश्चित किया इसलिये पर में या स्व में कहीं भी परिणाम के फेरफार की बुद्धि न रहने से ज्ञान ज्ञान में ही एकाग्रता को प्राप्त होता है। उसीको धर्म और मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक ओर केवलज्ञान और सामने द्रव्य के तीनकाल के स्व-अवसर में होनेवाले समस्त परिणाम; इनमें फेरफार होना है ही नहीं। लोग भी 'हाथ पर आम नहीं उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखने को कहते हैं; उसी प्रकार 'द्रव्य के परिणाम में फेरफार नहीं होता'—ऐसी वस्तुस्थिति

की प्रतीति करने से ज्ञान में धैर्य आ जाता है। और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा वहाँ मोक्षपर्याय होते देर नहीं लगती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्य के समस्त परिणाम स्व-अवसर में प्रकाशित होते हैं, यह सामान्यरूप से बात की, उसमें अब उत्पाद-व्यय ध्रौव्य को उतारते हैं। द्रव्य जब देखो तब वर्तमान परिणाम में वर्तता है। वर्तमान में उस काल के जो परिणाम हैं उस काल में वही प्रकाशित होते हैं—उनके पहले के परिणाम उस समय प्रकाशित नहीं होते। पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं'-ऐसा कहा था, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने में कथनशैली में परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रगट नहीं होते;' इसलिये उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणाम की अपेक्षा द्रव्य उत्पादरूप है, उसके पूर्व के परिणाम—जोकि इस समय प्रगट नहीं हैं—की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है, और समस्त परिणामों में अखण्ड वहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार द्रव्य का त्रिलक्षणपना ज्ञान में निश्चित् होता है। ऐसा ज्ञेयों का निर्णय करनेवाला ज्ञान स्व में स्थिर होता है, उसका नाम 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है।

मोतियों की माला लेकर जप कर रहा हो, उसमें पहले एक मोती अंगुली के स्पर्श में आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श में आता है, उस समय पहला मोती स्पर्श में नहीं आता, इसलिये पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमशः होनेवाले परिणामों में वर्तनेवाले द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद-व्यय तो पर्याय के ही होते हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है; उसमें परिणमन नहीं होता।' तो ऐसा नहीं है। द्रव्य एकान्त नित्य नहीं है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम बदलने से उन परिणामों में वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणामरूप से उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकाल में रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान-वर्तमानरूप नहीं वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणाम का उत्पाद-व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय नहीं होंगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नहीं होगी; इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय—ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय में ही उत्पाद-व्यय हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमें उत्पाद-व्यय होते ही नहीं'—ऐसा नहीं है। परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय में त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने-अपने काल में होते हैं। पर-द्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य में से क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से पर द्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व में भी पर्याय पर से दृष्टि हट गई क्योंकि उस पर्याय में से पर्याय प्रगट नहीं होती किन्तु द्रव्य में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकाली सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम में स्वभाव की धारारूप बहता; और विभाव की धारा का नाश करता हुआ परिणमन करता है। इसलिये द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की बात की थी, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात की है।

द्रव्य की सत्ता अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला

है। मात्र उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्य की सत्ता नहीं है, किन्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्य की सत्ता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ऐसी तीन पृथक्–पृथक् सत्तायें नहीं हैं किन्तु वे तीनों मिलकर एक सत्ता है।

पहले तो जो परिणाम उत्पन्न हुए वे अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्यरूप —ऐसी परिणाम की बात की थी; और यहाँ तो अब अन्तिम योग-फल निकालकर द्रव्य में उत्पाद–व्यय-ध्रौव्य उतारते हुए ऐसा कहा है कि द्रव्य में पीछे–पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं इससे द्रव्य का उत्पाद है, पहले–पहले के परिणाम उत्पन्न नहीं होते इसलिये द्रव्य व्ययरूप है, और सर्वपरिणामों में अखण्डरूप से प्रवर्तमान होने से द्रव्य ही ध्रौव्य है। इस प्रकार द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

अहो! समस्त द्रव्य अपने वर्तमान परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं, पूर्व के परिणाम वर्तमान में नहीं रहते इसलिये पूर्व परिणामरूप से व्यय को प्राप्त हैं और अखण्डरूप से समस्त परिणामों के प्रवाह में द्रव्य ध्रौव्यरूप से वर्तते हैं। बस, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप से वर्तते हुए द्रव्य टंकोत्कीर्ण सत् हैं। ऐसे सत् में कुछ भी आगे–पीछे नहीं होता। अपने ज्ञान में ऐसे टंकोत्कीर्ण सत् को स्वीकार करने से, फेर-फार करने की बुद्धि तथा 'ऐसा क्यों' ऐसी विस्मयता दूर हुई, उसी में सम्यक्श्रद्धा और वीतरागता आ गई। इसलिये ज्ञायकपना मोक्ष का मार्ग हुआ।

यह 'वस्तुविज्ञान' कहा जा रहा है। पदार्थ का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका ज्ञान करना सो पदार्थविज्ञान है। ऐसे पदार्थविज्ञान के विना कभी शांति नहीं होती। जहाँ, प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली है–ऐसा जाना वहाँ वस्तु के भिन्नत्व की वाड़ बंध गई। मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में पर का अभाव है और पर के उत्पाद-

व्यय-ध्रौव्य में मेरा अभाव है, मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में मैं, और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर—ऐसा निश्चित करने से पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ। स्व-द्रव्योन्मुख होने से स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ अर्थात् ध्रौव्य द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद होने लगा, वही धर्म है। पहले, पर को मैं बदल दूँ-ऐसा मानता था तब पराश्रयबुद्धि से विकारभावों की ही उत्पत्ति होती थी और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की रक्षा नहीं करता था;—इसलिये वह अधर्म था।

आचार्यभगवान ने इस गाथा में सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त बतलाकर अद्भुत बात की है। वर्तमान-वर्तमान समय के परिणाम की यह बात है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान परिणाम में साथ ही वर्त रहा है। [यहाँ पूज्य स्वामीजी का आशय यह समझाने का है कि परिणाम और द्रव्य दोनों साथ ही हैं। द्रव्य कभी भी परिणाम से रहित नहीं होता, परिणाम कभी भी द्रव्य से रहित नहीं होता। परिणाम इस समय हुए और द्रव्य गतकाल में रह जाये ऐसा नहीं होता; और द्रव्य है किन्तु परिणाम नहीं है—ऐसा भी नहीं होता। इसलिये परिणाम और द्रव्य दोनों वर्तमान में साथ ही हैं-ऐसा समझना] द्रव्य में स्वकाल में सदैव वर्तमान परिणाम होते हैं; जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम में ही वर्त रहा है; ऐसे वर्तमान में प्रवर्तमान द्रव्य की प्रतीति सो वीतरागता का मूल है।

'परिणाम का स्व-अवसर' कहा वहाँ परिणाम का जो वर्तन है वही उसका अवसर है; अवसर और परिणाम दो पृथक् वस्तुयें नहीं हैं। जिसका जो अवसर है उस समय वही परिणाम वर्तता है, उस परिणाम में वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है, उससे पूर्व के परिणाम में द्रव्य नहीं वर्तता इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपने की अपेक्षा से द्रव्य ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षपना प्रसिद्धि पाता है।

जीव और अजीव समस्त द्रव्य और उनके अनादि-अनंत परिणाम सत् हैं, वह सत् स्वयंसिद्ध है, उसका कोई दूसरा रचयिता या परिणमन करानेवाला नहीं है। जिसप्रकार कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्य के कोई परिणाम भी आगे-पीछे नहीं होते। द्रव्य में अपने काल में प्रत्येक परिणाम उत्पन्न होता है, पूर्व के परिणाम उत्पन्न नहीं होते और द्रव्य अखण्ड धारारूप बना रहता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाले द्रव्य को जानने से, अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होती है, और उस ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से भगवान आत्मा स्वभावधारा में बहता है, विभावधारा से व्यय को प्राप्त होता है और उस प्रवाह में स्वयं अखण्डरूप से ध्रुव रहता है; इस प्रकार वीतरागता होकर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

अहो! मुक्ति के कारणभूत ऐसा लोकोत्तर वस्तुविज्ञान समझानेवाले संतों को शत-शत वंदन हो!

[गाथा ९९ टीका समाप्त]

भव्य श्रोताजनों को तत्कालबोधक भगवान श्री गुरुवाणी माता की जय हो!

❀

पदार्थ का परिणामस्वभाव

❀ प्रवचनसार गाथा ९९ भावार्थ ❀

'प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है इसलिये 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।' प्रत्येक वस्तु तीनोंकाल अपने स्वभाव में अर्थात् अपने परिणाम में रहती है। सुवर्ण अपने कुण्डल, हार आदि परिणाम में वर्तता है; कुण्डल, हार आदि परिणामों से सुवर्ण पृथक् नहीं वर्तता। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान वर्तते हुए परिणाम में वर्तता है, अपने परिणाम से पृथक्

कोई द्रव्य नहीं रहता। कोई भी पदार्थ अपने परिणामस्वभाव का उल्लघन करके पर के परिणाम का स्पर्श नहीं करता, और परवस्तु उसके परिणाम का उल्लंघन करके अपने को स्पर्श नहीं करती। प्रत्येक वस्तु भिन्न–भिन्न अपने अपने परिणाम में ही रहती है। आत्मा अपने ज्ञान या रागादि परिणाम में स्थित है, किन्तु शरीर की अवस्था में आत्मा विद्यमान नहीं है। शरीर की अवस्था में पुद्गल विद्यमान हैं। शरीर के अनंत रजकणों में भी वास्तव में प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न अपनी अपनी अवस्था में विद्यमान है। ऐसा वस्तुस्वभाव देखनेवाले को पर में कहीं भी एकत्वबुद्धि नहीं होती और पर्याय-बुद्धि के राग-द्वेष नहीं होते।

आत्मा और प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी नई अवस्थारूप उत्पन्न–होता है, पुरानी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है और अखण्ड वस्तुरूप से ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हैं—ऐसे परिणाम सो स्वभाव है और वस्तु स्वभाववान् है। स्वभाववान्–द्रव्य अपने परिणामस्वभाव में स्थित है। कोई भी वस्तु अपना स्वभाव छोड़कर दूसरे के स्वभाव में वर्ते अथवा तो दूसरे के स्वभाव को करे–ऐसा कभी नहीं होता। शरीर की अवस्थायें हैं वे पुद्गल के परिणाम हैं, उनमें पुद्गल वर्तते हैं, आत्मा उनमें नहीं वर्तता; तथापि आत्मा उस शरीर की अवस्था में कुछ करता है—ऐसा जिसने माना उसकी मान्यता मिथ्या है। जिस प्रकार अफीम की कड़वाहट आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाम में अफीम ही विद्यमान है, उसमें कहीं गुड़ विद्यमान नहीं है, और गुड़ के मिठास आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणाम में गुड़ ही विद्यमान है, उसमें कहीं अफीम विद्यमान नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में आत्मा विद्यमान है, उनमें कहीं इन्द्रियाँ या शरीरादि विद्यमान नहीं हैं; इसलिये उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता और पुद्गल के शरीर आदि के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में

पुद्‌गल ही विद्यमान है, उनमें कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है; इसलिये आत्मा शरीरादि की क्रिया नहीं करता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ही विद्यमान है। बस, ऐसे पदार्थ के स्वभाव को जानना सो वीतरागी विज्ञान है, उसीमें धर्म आता है।

प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा-सीमा अपने-अपने स्वभाव में रहने की है; अपने स्वभाव की सीमा से बाहर निकलकर पर में कुछ करे—ऐसी किसी पदार्थ की शक्ति नहीं है।—ऐसी वस्तुस्थिति हो तभी प्रत्येक तत्त्व अपने स्वतंत्र अस्तित्वरूप से रह सकता है। यही बात अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त से कही जाये तो, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वचतुष्टय से (द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से) अस्तिरूप है, और पर के चतुष्टय से वह नास्तिरूप है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व भिन्न-भिन्न स्थित है—ऐसा निश्चित् करने से स्वतत्त्व को परतत्त्व से भिन्न जाना, और अपने स्वभाव में प्रवर्तमान स्वभाववान् द्रव्य की दृष्टि हुई; यही सम्यक्‌रुचि, सम्यक्‌ज्ञान और वीतरागता का कारण है।

जैसी वस्तु हो उसे वैसा ही जानना सो सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार लौकिक में गुड़ को गुड़ जाने और अफीम को अफीम जाने तो गुड़ और अफीम का सच्चा ज्ञान है, किन्तु यदि गुड़ को अफीम जाने या अफीम को गुड़ जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। उसी प्रकार जगत के पदार्थों में जड़-चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से स्थित है—ऐसा जानना सो सम्यक्‌ज्ञान है, और एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के कारण कुछ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्याज्ञान है; उसने पदार्थ के स्वभाव को जैसा है वैसा नहीं जाना, किन्तु विपरीत माना है।

आत्मा का 'ज्ञायक' स्वभाव है और पदार्थों का 'ज्ञेय' स्वभाव है; पदार्थों में फेरफार—आगेपीछे हो ऐसा उनका स्वभाव नहीं है; और उनके स्वभाव में कुछ फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं

है। जिस प्रकार आँख अफीम को अफीमरूप से और गुड़ को गुड़रूप से देखती है; किन्तु अफीम को बदलकर गुड़ नहीं बनाती और गुड़ को बदलकर अफीम नहीं बनाती; और वह अफीम भी अपना स्वभाव छोड़कर गुड़रूप नहीं होती तथा गुड़ भी अपना स्वभाव छोड़कर अफीमरूप नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व-पर ज्ञेयों को यथावत् जानता है, किन्तु उनमें कहीं कुछ भी फेरफार नहीं करता। और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यरूप नहीं होते। बस, ज्ञान और ज्ञेय के ऐसे स्वभाव की प्रतीति सो वीतरागी श्रद्धा है, ऐसा ज्ञान सो वीतरागी विज्ञान है।

स्वतंत्र ज्ञेयों को यथावत् जानना सो सम्यक्ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान क्या कार्य करता है?—जानने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कहीं फेरफार करने का कार्य ज्ञान नहीं करता। प्रत्येक पदार्थ स्वयंसिद्ध सत् है, और उसमें पर्यायधर्म है; वे पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाली हैं। इसलिये पदार्थ में प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं उनमें वह पदार्थ वर्त रहा है। इस प्रकार स्वतंत्रता को न जाने तो उसने द्रव्य की स्वतंत्रता को भी नहीं जाना है; क्योंकि 'सत्' अपने परिणाम में वर्तता हुआ स्थित है। यदि वस्तु स्वयं स्थित रहने के लिये दूसरे के परिणाम का आश्रय माँगे तो वह वस्तु ही 'सत्' नहीं रहती। 'सत्' का स्वभाव अपने ही परिणाम में प्रवर्तन करने का है। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सत् के अपने परिणाम का उत्पाद यदि दूसरे से होता हो तो वह स्वयं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' ही नहीं रहता। इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा मानते ही परिणाम की स्वतंत्रता की स्वीकृति तो आ ही गई। और, परिणाम परिणाम में से नहीं, किन्तु परिणामी (द्रव्य) में से आते हैं इसलिये उसकी दृष्टि परिणामी पर गई, वह स्व-द्रव्य के सन्मुख हुआ, स्व-द्रव्य की सन्मुखता में सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है, वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न— सोना और तांबा—दोनों का मिश्रण होनेपर तो वे एक-दूसरे में एकमेक हो गये हैं न ?

उत्तर— भाई ! वस्तुस्थिति को समझो। सोना और तांबा कभी एकमेक होते ही नहीं। संयोगदृष्टि से सोना और ताँबा एकमेक हुए ऐसा कहा जाता है, किन्तु पदार्थ के स्वभाव की दृष्टि से तो सोना और तांबा कभी एकमेक हुए ही नहीं हैं, क्योंकि जो सोने के रज-कण हैं वे अपने सुवर्ण-परिणाम में ही वर्तते हैं और जो ताँवे के रजकण हैं वे अपने तांवा-परिणाम में ही वर्तते हैं; एक रजकण दूसरे रजकण के परिणाम में नहीं वर्तता। सोने के दो रजकणों में से भी उसका एक रजकण दूसरे में नहीं वर्तता। यदि एक पदार्थ दूसरे में और दूसरा तीसरे में मिल जाये, तव तो जगत में कोई स्वतंत्र वस्तु ही न रहे। सोना और ताँबा 'मिश्र हुआ' ऐसा कहने से भी उन दोनों की भिन्नता ही सिद्ध होती है, क्योंकि 'मिश्रण' दो का होता है, एक में 'मिश्रण' नहीं कहलाता। इसलिये मिश्रण कहते ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूप से सत् रहती है, दूसरा कोई विप-रीत माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वभाव वदल नहीं जाता। कोई अफीम को गुड़ माने तो इससे कहीं अफीम की कड़वाहट दूर नहीं हो जायेगी; अफीम को गुड़ मानकर खाये तो उसे कड़वाहट का ही अनुभव होगा। उसी प्रकार तत्त्व को जैसे का तैसा स्वतंत्र न मान-कर पर के आधार से स्थित माने तो, कहीं वस्तु तो पराधीन नहीं हो जाती, किन्तु उसने सत् की विपरीत मान्यता की इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या होता है; और उस मिथ्याज्ञान के फल में उसे चौरासी का अवतार होता है। कोई जीव पुण्य का शुभराग करके ऐसा माने कि मैं धर्म करता हूँ, तो कहीं उसे राग से धर्म नहीं होगा, किन्तु उसने वस्तुस्वरूप को विपरीत जाना है, इसलिये उस अज्ञान के फल में उसे चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

परिणाम स्वभाव है और स्वभाववान् द्रव्य है;—ऐसा जानकर स्वभाववान् द्रव्य की रुचि होते ही सम्यक्त्व का उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्व का व्यय और अखण्डरूप से आत्मा की ध्रुवता है।

प्रत्येक वस्तु 'सत्' है; 'सत्' त्रिकाल स्वयंसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। किन्तु वस्तु कभी असत् नहीं होती। वस्तु त्रिकाल है इसलिये उसका कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि त्रिकाली का रचयिता नहीं होता। यदि रचयिता कहो तो उससे पूर्व वस्तु नहीं थी—ऐसा सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तु का नित्य-पना नहीं रहेगा। वस्तु त्रिकाल सत् है, और वह वस्तु परिणामस्व-भाववाली है; त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनोंकाल के वर्तमान-वर्तमान परिणामों का रचना करता है, वे परिणाम भी स्व-अवसर में सत् हैं, इसलिये उन परिणामों का रचयिता भी दूसरा कोई नहीं है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य का कर्ता कोई–ईश्वर आदि–नहीं है, उसी प्रकार उस त्रिकाली द्रव्य के वर्तमान परिणाम का कर्ता भी कोई दूसरा (निमित्त, कर्म या जीव आदि) नहीं है। अपने प्रत्येक समय के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य में स्थित रहता है इसलिये द्रव्य सत् है। यदि द्रव्य दूसरे के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य का अवलम्बन करे तो वह स्वयं सत् नहीं रह सकता। इसलिये जो जीव द्रव्य को यथार्थतया 'सत्' जानता हो वह द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को नहीं मानता; द्रव्य का या द्रव्य को किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को माने उस जीव ने वास्तव में 'सत्' को नहीं जाना है।

अहो! वस्तु के सत् स्वभाव को जाने बिना बाह्य क्रिया-काण्ड के लक्ष से अनंतकाल बिता दिया, किन्तु वस्तु का स्वभाव सत् है उसे नहीं जाना इसलिये जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

वस्तु परिणाम में परिणमन करती है, वह परिणाम से पृथक् नहीं रहती। प्रत्येक समय के परिणाम के समय सम्पूर्ण वस्तु साथ में वर्त रही है—ऐसा जाने तो अपने को क्षणिक राग जितना मान-

कर उस समय सम्पूर्ण वस्तु रागरहित विद्यमान है–उसका विश्वास करे; इससे राग की रुचि का बल टूटकर सम्पूर्ण वस्तु पर रुचि का बल ढला, अर्थात् सम्यक्रुचि उत्पन्न हुई; राग और आत्मा का भेदज्ञान हुआ। मैं पर में नहीं वर्तता, मेरे परिणाम में पर वस्तु नहीं वर्तती, किन्तु मैं अपने परिणाम में ही वर्तता हूँ;—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की स्वतंत्रता जानने से रुचि पर में नहीं जाती, परिणाम पर भी नहीं रहती किन्तु परिणामी द्रव्य में प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् सम्यक्रुचि होती है।

'वस्तु परिणाम में वर्तती है।' बस! ऐसा निश्चित् करने में पर्यायबुद्धि दूर होकर वस्तुदृष्टि हो जाती है; उसीमें वीतरागता विद्यमान है। मेरी भविष्य की केवलज्ञानपर्याय में भी यह द्रव्य ही वर्तेगा;—इसलिये भविष्य की केवलज्ञानपर्याय को देखना नहीं रहा, किन्तु द्रव्यसन्मुख ही देखना रहा। द्रव्य की सन्मुखता में अल्पकाल में केवलज्ञान हुए विना नहीं रहता।

अहो! मैं अपने परिणामस्वभाव में हूँ, परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वरूप है, उसीमें आत्मद्रव्य वर्तता है—इस प्रकार स्व-वस्तु की दृष्टि होने से पर से लाभ-हानि मानने का मिथ्याभाव नहीं रहा, वहाँ सम्यग्ज्ञान पर्यायरूप से उत्पाद है, मिथ्याज्ञान पर्यायरूप से व्यय है और ज्ञान में अखण्ड परिणामरूप से ध्रौव्यता है। इस प्रकार इसमें धर्म आता है।

'परिणामी के परिणाम हैं'—ऐसा न मानकर जिसने पर के कारण परिणामों को माना उसने परिणामी को दृष्टि में नहीं लिया, किन्तु अपने परिणाम पर करता है—ऐसा माना इसलिये स्व-पर को एक माना; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परिणाम परिणामी के हैं—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की रुचि में स्वद्रव्य की सम्यक्रुचि उत्पन्न होकर मिथ्यारुचि का नाश हो जाता है।

देखो, यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। जैनदर्शन कोई वाड़ा या कल्पना नहीं है किन्तु वस्तुयें जिस स्वभाव से हैं वैसी सर्वज्ञ भगवान ने देखी हैं, और वही जैनदर्शन में कही हैं। जैनदर्शन कहो या वस्तु का स्वभाव कहो।—उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान सच्चा होगा और भव का परिभ्रमण दूर होगा। यदि वस्तु के स्वभाव को विपरीत मानेगा तो असत् वस्तु की मान्यता से तेरा ज्ञान मिथ्या होगा और परिभ्रमण का अंत नहीं आयेगा; क्योंकि मिथ्यात्व ही सबसे महान पाप माना गया है; वही अनंत संसार का मूल है।

उत्पाद-व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम है वह स्वभाव है, और स्वभाव है वह स्वभाववान् के कारण है।—इस प्रकार स्वभाव और स्वभाव-वान् को दृष्टि में लेने से, पर के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को मैं करूँ या मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को पर करे यह बात नहीं रहती, इसलिये स्वयं अपने स्वभाववान् की ओर उन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उसीमें धर्म आ गया। लोगों ने बाह्य में धर्म मान रखा है, किन्तु वस्तुस्थिति अंतर की है। लोगों के माने हुए धर्म में और वस्तुस्थिति में पूर्व–पश्चिम दिशा जितना अंतर है।

'वस्तु' उसे कहते हैं जो अपने गुण–पर्याय में वास करे; अपने गुण–पर्याय से बाहर वस्तु कुछ नहीं करती, और न वस्तु के गुण-पर्याय को कोई दूसरा करता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्वार्थ का श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तत्पश्चात् श्रावक और मुनि के व्रतादि होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि माने वह तो 'राख पर लीपन' मानना है। आत्मा की प्रतीति हुए बिना कहाँ रहकर व्रतादि करेगा?

जिस प्रकार गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता मानता है कि— गाड़ी मेरे कारण चल रही है; किन्तु गाड़ी के परिणाम में उसका प्रत्येक परमाणु वर्त रहा है, और कुत्ते के रागादि परिणाम में कुत्ता

है; गाड़ी और कुत्ता—कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते। तथापि कुत्ता व्यर्थ मानता है कि 'मुझसे गाड़ी चल रही है।' उसी प्रकार पर वस्तु के परिणाम स्वयं उसके अपने से होते हैं, उसे देख-कर अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि पर के परिणाम मुझसे होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक तत्त्व के परिणाम सत् हैं, उसमें कोई दूसरा क्या करेगा? ऐसा स्वतंत्र वस्तु का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ भगवान ने ज्ञान में देखा है। कहीं भगवान ने देखा इस-लिये वस्तु का ऐसा स्वभाव है—ऐसा नहीं है, और ऐसा वस्तु का स्वभाव है इसलिये भगवान को उसका ज्ञान हुआ ऐसा भी नहीं है। ज्ञेय वस्तु का स्वभाव सत् है, और ज्ञान भी सत् है। प्रथम ऐसे सत्स्वभाव को समझो! जो ऐसे स्वभाव को समझ ले उसीने वस्तु को वस्तुरूप से जाना है—ऐसा कहा जाये।

कर्म—परिणाम में पुद्गल वर्तते हैं और आत्मा के परिणाम में आत्मा वर्तता है; कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते; इसलिये कर्म आत्मा को परिभ्रमण नहीं कराते। अपने स्वतंत्र परिणाम को न जानकर, कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा माना है उस विपरीत मान्यता से ही जीव भटक रहा है, किन्तु कर्मों ने उसे नहीं भटकाया। उस परिभ्रमण के परिणाम में आत्मा वर्त रहा है। प्रति-समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होने का प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है--यह समझे तो परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाती है, और द्रव्यदृष्टि में सम्यक्त्व और वीतरागता का उत्पाद होता है, वह धर्म है।

यदि द्रव्य के एकसमय का सत् दूसरे से हो तो उस द्रव्य का वर्तमान सत्पना नहीं रहता; और वर्तमान सत् का नाश होने से त्रिकाली सत् का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र सत् माने विना त्रिकाली द्रव्य का सत्पना सिद्ध नहीं होता; इसलिये द्रव्य का वर्तमान दूसरे से (-निमित्त से) होता है—इस मान्यता

में मिथ्यात्व होता है, उसमें सत् का स्वीकार नहीं आता। सत् का तो नाश नहीं होता किन्तु जिसने सत् को विपरीत माना है उसकी मान्यता में सत् का अभाव होता है। त्रिकाली सत् स्वतंत्र, किसी के बनाये बिना है, और प्रत्येक समय का वर्तमान सत् भी स्वतंत्र किसी के बनाये बिना है। ऐसे स्वतंत्र सत् को विपरीत–पराधीन मानना सो मिथ्यात्व है, वही महान अधर्म है। लोग काला बजार आदि में तो अधर्म मानते हैं, किन्तु विपरीत मान्यता से सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का घात कर डालते हैं उस विपरीत मान्यता के पाप की खबर नहीं है। मिथ्यात्व तो धर्म का महान काला बजार है, उस काले बजार से चौरासी के अवतार की जेल है। सत को जैसे का तैसा माने तो मिथ्यात्वरूपी काले बजार का महान पाप दूर हो जाये और सच्चा धर्म हो। इसलिये सर्वज्ञदेव कथित वस्तुस्वभाव को बराबर समझना चाहिये।

※

अहो! वीतरागी तात्पर्य

प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है इसलिये वह 'सत्' है। वस्तु अपने परिणाम में वर्तमान रहती हो तभी सत् रहे न? यदि वर्तमान परिणाम में न रहती हो तो वस्तु 'सत्' किस प्रकार रहे? उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है, और उस वर्तमान परिणाम में वस्तु निरंतर वर्त रही है, इससे वह सत् है।

आत्मा का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी एक है, और उस क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश सो प्रदेश है। उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य की प्रवाहधारा एक है, और उस प्रवाहधारा का छोटे से छोटा अंश सो परिणाम है।

क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो प्रदेश है।

काल अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो परिणाम है।

यह तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने के लिये वर्णन है। परि-

णाम परिणामी में से आता है,—ऐसे परिणामी द्रव्य की दृष्टि कर तो उस परिणामी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम उत्पन्न हो, स्थिर रहे और बढ़कर पूर्ण हो ।

प्रत्येक परिणाम अपने स्वकाल में उत्पन्न होता है, पूर्व परिणाम से व्ययरूप है और अखण्डप्रवाह में वह ध्रौव्य है । केवलज्ञान-परिणाम अपने स्वरूप की अपेक्षा से स्वकाल में उत्पादरूप है, पूर्व की अल्पज्ञ पर्याय अपेक्षा से वह व्ययरूप है, और द्रव्य के अखण्डप्रवाह में तो वह केवलज्ञानपरिणाम ध्रौव्य है; इस प्रकार समस्त परिणाम अपने-अपने वर्तमान काल में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले हैं, और उन-उन वर्तमान परिणामों में वस्तु वर्त रही है, अर्थात् वस्तु वर्तमान में ही पूर्ण है । ऐसी वस्तु की दृष्टि कर तो उसके आश्रय से धर्म होता है । ज्ञानी केवलज्ञान पर्याय के काल को नहीं ढूंढ़ते (उस पर दृष्टि नहीं रखते), क्योंकि वह पर्याय इस समय तो सत् नहीं है, किन्तु भविष्य में अपने स्वकाल में वह सत् है; इसलिये ज्ञानी तो वर्तमान में सत्-ऐसे ध्रुव द्रव्य को ही ढूंढ़ते हैं-(ध्रुव पर दृष्टि रखते हैं ।) इस अपेक्षा से नियमसार में उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक—इन चारों भावों को विभावभाव कहा है । जो पर्याय वर्तमान उत्पाद-रूप से वर्तती है वह तो अंश है; केवलज्ञान पर्याय भी अंश है;—वह वर्तमान प्रगट नहीं है और भविष्य में प्रगट होगी—इस प्रकार परिणाम के काल पर देखना नहीं रहता किन्तु वर्तमान परिणाम के समय ध्रुवरूप से सम्पूर्ण द्रव्य वर्त रहा है उस द्रव्य की प्रतीति करना इसमें आता है; द्रव्य की दृष्टि होने में वीतरागता होती है । शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है; वीतरागता को तात्पर्य कहने से स्वभाव की दृष्टि करने का ही तात्पर्य है—ऐसा आया; क्योंकि वीतरागता तो स्वभाव की दृष्टि से होती है । अंतर में द्रव्यस्वभाव पर लक्ष रहने से वीतरागता हो जाती है; इससे ध्रुव द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सर्वस्व कार्यकर हुई । पर्याय को ढूंढ़ना नहीं रहा अर्थात्

पर्याय की दृष्टि नहीं रही। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञाता रहा, उसमें वीतरागता होती जाती है।

वीतरागता ही तात्पर्य है, किन्तु वह वीतरागता कैसे हो? वीतरागपर्याय को शोधने से (उस पर्याय सन्मुख देखने से) वीतरागता नहीं होती किन्तु ध्रुवतत्त्व के आश्रय में रहने से पर्याय में वीतरागतारूप तात्पर्य हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि होने में ही तात्पर्य आ जाता है। इसलिये, शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है—ऐसा कहो, या शास्त्र का तात्पर्य स्वभावदृष्टि है—ऐसा कहो, दोनों एक ही हैं। श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है कि:—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई;
लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई।'

जैसा भगवान का आत्मा, वैसा ही अपना आत्मा, उसके स्वभाव में कोई भेद नहीं है। ऐसे स्वाभाव का लक्ष करना ही शास्त्रों का सार है।

यहाँ परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात चल रही है, उसमें से वीतरागी तात्पर्य किस प्रकार निकलता है वह बतलाया है। परिणामों की ध्रौव्यता तो अखण्डप्रवाह अपेक्षा से है। अब, परिणामों का प्रवाहक्रम एक साथ तो वर्तता नहीं है, इसलिये परिणामों की ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित नहीं हो सकते। परिणाम को ध्रौव्य कब कहा?—परिणामों के संपूर्ण प्रवाह की अपेक्षा से उसे ध्रौव्य कहा है; सम्पूर्ण प्रवाह एक समय में प्रगट नहीं हो जाता इसलिये परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित करनेवाले की दृष्टि एक-एक परिणाम के उपर से हटकर ध्रुव द्रव्य पर गई। परिणाम के ऊपर की दृष्टि से (पर्यायदृष्टि से) परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित नहीं होती। परिणामों का अखण्ड प्रवाह कहीं एक ही परिणाम में तो नहीं है, इसलिये अखण्ड की—त्रिकाली ध्रौव्य की—ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुए विना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी ख्याल

में नहीं आ सकते।

वस्तु एक समय में पूर्ण है; उसके परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना निश्चित करने से द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। वर्तमानपरिणाम से उत्पाद है, पूर्वपरिणाम से व्यय है, और अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य है। इसलिये अखण्डप्रवाह की दृष्टि में ही ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि गई, और तभी परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् हुए।

इसमें पुरुषार्थ कहाँ काम करता है?—ऐसा निश्चित् किया वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही कार्य करने लगा, और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम अपने स्वकाल में होते हैं वे तो होते ही रहते हैं; किन्तु वैसा निश्चित करनेवाले की दृष्टि ध्रुव पर पड़ी है। ध्रौव्य–दृष्टि हुए बिना यह बात नहीं जम सकती।

इस ज्ञेय–अधिकार में मात्र पर-प्रकाशक की बात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता में स्वप्रकाशक हुआ वहाँ सम्पूर्ण जगत के समस्त पदार्थ भी, ऐसे ही हैं—ऐसा पर-प्रकाशकपना ज्ञान में विकसित हो ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कब निश्चित होते हैं? ज्ञायक चैतन्यद्रव्य की रुचि तथा उस ओर उन्मुखता होने से सब निश्चित हो जाता है। जिस प्रकार स्व के ज्ञानसहित हो पर का सच्चा ज्ञान होता है, उसी प्रकार ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद–व्यय का सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कहीं पर के उपर तो देखना नहीं है; और मात्र अपनी पर्यायसन्मुख भी देखना नहीं है; विकल्प को दूर करके निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्ष से निर्विकल्पता नहीं होती किन्तु ध्रुव के लक्ष से निर्विकल्पता हो जाती है। इसलिये पर्याय के उत्पाद-व्यय के सन्मुख भी देखना नहीं है। पर्यायों के प्रवाहक्रम में द्रव्य वर्त रहा है। किस पर्याय के समय सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है?—जब देखो

तब द्रव्य वर्तमान में परिपूर्ण है; ऐसे द्रव्य की सन्मुखता होने से प्रवाहक्रम निश्चित होता है। फिर उस प्रवाह का क्रम बदलने की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु ज्ञातापने का ही अभिप्राय रहता है। वहाँ वह प्रवाहक्रम ऐसे का ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है। उस द्रव्यदृष्टि में क्रमशः वीतरागी परिणामों का ही प्रवाह निकलता रहेगा। ऐसा इस ९९ वीं गाथा का सार है।

अहो! अपार वस्तु है; केवलज्ञान का कोठार भरा है। इसमें से जितना रहस्य निकालो उतना निकल सकता है। भीतर दृष्टि करे तो पार आ सकता है।

अहो! आचार्यभगवान ने अमृत के ढक्कन खोल दिये हैं,—अमृत का प्रवाह बहा दिया है।

(१) सामान्य में से विशेष होता है ऐसा कहो,

(२) वस्तु उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त है ऐसा कहो, अथवा

(३) द्रव्य में से क्रमबद्धपर्याय की प्रवाहधारा बहती है, ऐसा कहो; इसका निर्णय करने में ध्रुवस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की रुचि में ही सम्यक्त्व और वीतरागता होती है। यह तो अंतर-रुचि की और अंतरदृष्टि की वस्तु है, मात्र शास्त्र की, पंडिताई की यह वस्तु नहीं है।

यह, वस्तु के समय-समय के परिणाम में उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य की सूक्ष्म बात है। कुंभार घड़ा नहीं बनाता और कर्म जीव को विकार नहीं कराते—यह तो ठीक, किन्तु यह तो उससे भी सूक्ष्म बात है। सर्वज्ञता में ज्ञात हुआ वस्तुस्वभाव का एकदम सूक्ष्म नियम यहाँ बतला दिया है। मिट्टी स्वयं पिण्डदशा का नाश होकर घटपर्याय रूप उत्पन्न होती है और मिट्टीपने के प्रवाह की अपेक्षा वह ध्रौव्य है; उसी प्रकार समस्त पदार्थ उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वभाववाले हैं।— ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव समझने से अपने को पर-सन्मुख देखना

नहीं रहता; क्योंकि पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को स्वयं नहीं करता और अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर से नहीं होते, इसलिये अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के लिये कहीं परसन्मुख देखना नहीं रहता किन्तु स्वसन्मुख देखना ही रहता है। अब, स्वयं अपने परिणामों को देखते हुए ज्ञान अंतर में परिणामी स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामी के आधार से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है। इस प्रकार ध्रुव के आश्रय से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है।—उसकी यह बात है !

'आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता।'—ऐसा कहते ही अन्य किसी के सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना आता है। अपने में अपने परिणाम अपने से होते हैं—ऐसा निश्चित करने पर अंतर में जहाँ से परिणाम की धारा बहती है ऐसे ध्रुव द्रव्य-सन्मुख देखना रहा। और ध्रुव-सन्मुख देखते ही (ध्रुवस्वभाव की दृष्टि होते ही) सम्यक्पर्याय का उत्पाद होता है। यदि ध्रुव-सन्मुख न देखे तो पर्यायदृष्टि में मिथ्यापर्याय का उत्पाद होता है। इसलिये वस्तु के ऐसे उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वभाव को समझने से ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से सम्यक् वीतराग पर्यायों का उत्पाद हो—यही सर्व कथन का तात्पर्य है।

卐 चैतन्यतत्त्व की महिमा और दुर्लभता 卐

अहो, आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अत्यन्त महिमावाली बात जीवों ने यथार्थरूप से कभी नहीं सुनी। इस समय चैतन्यतत्त्व की महिमा की बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अति जिज्ञासु और अत्यन्त योग्य होकर आत्मस्वभाव की यह बात सुने उसका कल्याण हो सकता है। —प्रवचन में से

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

✿ 'प्रभो! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है?' —ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है।

✿ उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।

✿ उस आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २५ नयों पर के प्रवचन अभीतक आ गये हैं; उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

★

---

(२६) नियतनय से आत्मा का वर्णन

अनंतधर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञान से ज्ञात होता है; उसका २५ नयों से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अब नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और दैव—इन पाँच बोलों का वर्णन करते हैं; उनमें प्रथम नियतिनय से आत्मा कैसा है वह कहते हैं।

आत्मद्रव्य नियतनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियत स्वभाव है उसी प्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है। आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है; उस स्वभाव को देखनेवाले नियतनय से जब देखो तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभावरूप से एकरूप भासित होता है। पर्याय में कभी तीव्रराग, कभी मंदराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदलकर द्वेष,

कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक क्षण मनुष्य और दूसरे क्षण देव—इसतरह अनेक प्रकार होते हैं—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोल में आत्मा के अनियत स्वभावरूप से करेंगे। यहाँ आत्मा के नियतस्वभाव की बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव है वैसे ही नियतस्वभावरूप से आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है; पर्याय अल्प हो या अधिक हो, विकारी हो या निर्मल हो, परन्तु नियतस्व-भाव से तो आत्मा सदैव एकरूप है। ऐसे नियतस्वभाव को जो देखता है उसे अकेली पर्यायबुद्धि नहीं रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा को एकरूप नियतस्व-भाव से नहीं देख सकता और न उसके नियतनय होता है।

यहाँ द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव को ही नियत कहा है; जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है; ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसी प्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियत स्वभाव है; उस स्वभाव से जब देखो तब आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्याय में भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है; जिस समय जिस पर्याय का होना नियत है वही होती है; उसके क्रम में परिवर्तन नहीं होता—ऐसा पर्याय का नियत स्वभाव है; परन्तु इस समय यहाँ उसकी बात नहीं है; यहाँ तो निमित्त की अपेक्षारहित आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है उसका नाम नियत-स्वभाव है और वह नियतनय का विषय है।

जिस प्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव है वह नियत ही है,—निश्चित ही है; अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत-निश्चित-सदैव एकरूप है; नियतस्वभाव से आत्मा अनादि-अनन्त एकरूप नियत परम पारिणामिक-स्वभावरूप ही भासित होता है; बंध-मोक्ष के भेद भी उसमें दिखाई नहीं देते। बन्ध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नहीं

हैं परन्तु अनियत हैं। उदय-उपशम-क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों भाव भी अनियत हैं; परमपारिणामिक-स्वभाव ही नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्मा को सदैव ज्ञायक स्वभावरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है वह नियत—निश्चित हुआ अनादि-अनंत स्वभाव है; उसमें कभी परिवर्तन नहीं हो सकता। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव पर्याय के अनेक प्रकारों को भी जानता है, तथापि उसे पर्यायबुद्धि नहीं होती। आत्मा के नियत एकरूपध्रुव स्वभाव को जानने से उसीका आश्रय होता है; इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता उसे नहीं रहती। इस प्रकार प्रत्येक नय से शुद्ध आत्मा की ही साधना होती है। जो जीव अन्तरंग में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं देखता उसके एक भी सच्चा नय नहीं होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमें कभी परिवर्तन न हो। उसी प्रकार यह नियतनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके, आत्मा का नियम क्या है?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से त्रिकाल रहना ही उसका नियम है; अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जो आत्मस्वभाव के ऐसे नियम को जानता है वह नियम से मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभाव के गीत! संतों के अन्तर् अनुभव में से यह झन्कार उठी है कि अरे जीव! तूने अपने नियत परमानन्द-स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है; तेरा सहज ज्ञान और आनन्द स्वभाव तुझमें नियत है; तू सदैव अनाकुल शांत रस का कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड़ दे तो भगवान आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोड़े! परन्तु ऐसा कभी नहीं

होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियत स्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य से धर्म नहीं आता। एक बार अन्तर में अपने ऐसे नियत स्वभाव को देख!

नियतनय से देखने पर पवित्रता का पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्य-स्वभाव से नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदैव अपने परम शुद्ध अमृत रस में डुबा रखता है; अपने शांत उपशम रस में स्थिर-नियत रखता है। नरक में या स्वर्ग में; अज्ञानदशा के समय या साधकदशा के समय, निगोद में था तब या सिद्धदशा में होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभाव को बदलकर अन्यरूप नहीं हो जाता—ऐसा आत्मा का नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसके पर्याय में भी ऐसा ही नियत होता है कि अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखने से अनुकूलता में राग और फिर वह बदलकर प्रतिकूलता में द्वेष—इस प्रकार आत्मा अनियतस्वभाव से लक्ष में आता है; और दूसरी ओर से देखने पर तीन लोक की चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े तथापि आत्मा कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतस्वभाव है।—इस प्रकार दोनों स्वभावों से जो आत्मा को जानता है उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर उसमें अन्तरोन्मुखता हुए बिना नहीं रहेगी।

जिस प्रकार, अग्नि में उष्णता न हो ऐसा कभी नहीं हो सकता; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानानंद स्वभाव अनादि-अनंत एकरूप है उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है; उसी प्रकार आत्मा में ऐसा नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव से वह कभी पृथक् नहीं होता। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अनंत सहजानंद की मूर्ति है; उस स्वभाव को

देखनेवाले ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते कि, किन्हीं अनुकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमें परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उन ज्ञानियों को चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में भी अनंतानुबंधी राग-द्वेष होते ही नहीं। वे जानते हैं कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य ज्ञायकरूप से नियत है; हमें अपने ज्ञायकस्वभाव से छुड़ाने की किन्हीं संयोगों की तो शक्ति नहीं है, और पर्याय के क्षणिक विकार में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि हमें अपने स्वभाव से पृथक् कर दे। जिस प्रकार लोग नियम लेते हैं कि हम अमुक वस्तु नहीं खाएँगे; उसी प्रकार आत्मा के नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीनकाल में कभी भी अपने चैतन्यस्वभाव को छोड़कर विभावरूप नहीं होना। जो घड़ी-घड़ी में बदले उसे नियम नहीं कहा जाता।

देखो, यह काहे की बात चल रही है? यह भगवान आत्मा के गीत गाए जा रहे हैं; आत्मा में जो धर्म हैं उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानी को अनादिकाल से अपने स्वभाव की महिमा नहीं रुचती और वह पर की महिमा करता है। जहाँ उच्चप्रकार के हीरे-जवाहिरात या आभूषणों की महिमा सुनता है वहाँ उनकी महिमा आ जाती है; परन्तु आत्मा स्वयं तीनलोक का प्रकाशक चैतन्य हीरा है उसके स्वभाव की महिमा गायी जा रही है, उसे सुनने में अज्ञानी को रुचि या उत्साह नहीं आता। यहाँ तो जिसे आत्मा का स्वभाव समझने की जिज्ञासा जागृत हुई है उसे आचार्यदेव समझाते हैं। आत्मा का शुद्धस्वभाव त्रिकाल नियमित है; उसी के आधार से पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है; इसके अतिरिक्त कहीं वाह्य में से, विकार में से या क्षणिक पर्याय में से शुद्ध पर्याय नहीं आती। भगवान आत्मा ने अपनी पवित्रता के पिण्ड को कभी छोड़ा नहीं है। पर्याय में जो शुद्धता प्रगट होती है वह तो पहले नहीं थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिये वह अनियत है; और शुद्ध

स्वभाव ध्रुवरूप से सदैव ऐसे का ऐसा ही है; इसलिये वह नियत है। पर्याय जिस समय जो होना हो वही होती है;—इस प्रकार से पर्याय का जो नियत है उसकी इस नियतनय में बात नहीं है परन्तु यहाँ तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है; क्योंकि नियत के समक्ष फिर अनियतस्वभाव का भी कथन करेंगे; उसमें पर्याय की बात लेंगे। पर्यायों के नियतपने की (क्रमबद्धपर्याय की) जो बात है उसमें नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नहीं हैं; उसमें तो नियत का एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही हैं—कोई भी पर्याय अनियत नहीं है। परन्तु इससमय तो आत्मवस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—ऐसे दोनों धर्म उतारना हैं; इसलिये यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव; पर्याय का क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकसमान रहनेवाला नहीं है इसलिये उसे यहाँ अनियत स्वभाव कहा है। जब पर्याय का नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो उससमय तो विकार भी नियत कहा जाता है; ज्ञान नियत है, ज्ञेय नियत हैं, विकार नियत है, संयोग और निमित भी नियत हैं, जो हों वही होते हैं, अन्य नहीं होते, जिससमय जो होना है वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय में भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है, और वस्तु का नियत-अनियत स्वभाव कहा उसके निर्णय में भी ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियत-स्वभाव को जानने पर राग को अनियत धर्मरूप से जानता है, इस-लिये उस राग में स्वभावबुद्धि नहीं होती; इस प्रकार आत्मा के नियत स्वभाव को जानने पर राग से भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है वह आत्मा का अनियतस्वभाव है—ऐसा जाने, अथवा राग को उस समय की पर्याय के नियतरूप से जाने, तो भी उन दोनों में, 'आत्मा का नियतस्वभाव उस राग से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियतस्वभाव को जाने वही जीव

त्रिकाल की पर्यायों के नियतपने को यथार्थ जानता है, और क्षणिक भावों के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय में राग हुआ वह आत्मा का अपना अनियतधर्म है, इसलिये कर्म के उदय के कारण राग हुआ यह बात नहीं रहती। आत्मा का स्थायी स्वभाव वह नियत है और क्षणिकभाव वह अनियत है। पूर्वं अनादिकाल में आत्मा नरक-निगोद आदि चाहे जिस पर्याय में रहा, तथापि आत्मा के नियतधर्म को उसने अपने शुद्धस्वभाव से एकरूप बना रखा है; जहाँ-जहाँ परिभ्रमण किया वहाँ सर्वत्र अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को अपने साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अंतर्स्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान में अपूर्व धर्म होता है।

नियतनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनय का विषय पर्याय है। 'अनियत' का अर्थ अक्रमबद्ध-अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नहीं समझना; परन्तु पर्याय वह आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नहीं है किन्तु वह पलट जाता है उस अपेक्षा से उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकाल के प्रत्येक समय की जैसी है वैसी नियत है; उसमें कुछ उल्टा-सीधा नहीं हो सकता। बस! तू अपने ज्ञान की प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे हैं—यह बात भूल जा; और राग को बदलूँ—यह बात भी भूल जा; शरीरादि और रागादि—सबको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है उसे सँभाल; वह तेरा नियत-स्वभाव है। अपने नियतस्वभाव को तूने कभी छोड़ा नहीं है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इस प्रकार द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो गया।

द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर, राग को पर्याय के नियत रूप से जाने तो उसमें भी राग का ज्ञाता हो गया।

राग आत्मा का अनियत स्वभाव है अर्थात् वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नहीं है-ऐसा जाने तो उसमें भी राग और स्वभाव

का भेदज्ञान होकर राग का ज्ञाता रह गया।

—इस प्रकार चाहे जिस रीति से समझे परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

'नियतवाद' का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकार की अंधाधुंधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेव ने जेसा देखा है उसी प्रकार नियम से होता है—इस प्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धापूर्वक के सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानी गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं; परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव के निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ाते हैं उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नहीं है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता, सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता; परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा वह होगा।' परन्तु 'जो नियत होगा वह होगा'—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया?—अपने ज्ञान में। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है? ज्ञान की बड़ाई और महिमा को जानकर, उसके सन्मुख होकर, ज्ञेयों के नियत को जो जानता है वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है उसकी गोम्मटसार में बात नहीं है, परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ की श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो! सब नियत है; जिस समय जैसा होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है; मैं तो स्व–परप्रकाशी ज्ञाता हूँ। ऐसा

निर्णय वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत में द्रव्य–पर्याय सबका समावेश हो जाता है; अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक्–पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ–अशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तव में सम्यक् नियतवाद को माना है; उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है, मोक्ष का मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१–३२२ वीं गाथा में है; सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करता है वह उसमें बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसार में जो नियतधर्म कहा है वह तीसरी बात है। यहाँ तो आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसका नाम नियतधर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूल स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी–अज्ञानी सभी जीवों में है; परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतनय द्वारा जानते हैं। नियतधर्म सभी आत्माओं में है, परन्तु नियतनय सभी आत्माओं के नहीं होता; जो ज्ञानी आत्मा के नियतस्वभाव को जाने उसीके नियतनय होता है।

इस प्रकार नियतनय के तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसार में कहा हुआ ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीत-मिथ्यादृष्टि का नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा हुआ ज्ञानी का नियतवाद; उसमें सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञ-देव के देखे हुए वस्तुस्वरूप का चिंतन करता हुआ, जैसा होता है वैसा पर्याय के नियत को जानता है; उसमें विषम-भाव नहीं होने देता। इसलिये यह ज्ञानी का नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) इस प्रवचनसार में कहा हुआ नियतस्वभाव; नियतनय से सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव से नियत हैं।

उपरोक्त तीन प्रकारों में से गोम्मटसार में जिस नियतवाद को गृहीतमिथ्यात्व में गिना है वह अज्ञानी का है; उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञ की श्रद्धा सहित और ज्ञाताद्दृष्टास्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थ सहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है। और प्रवचनसार में जिस नियतवाद की बात है वह समस्त जीवों का त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानन्द-स्वभाव है उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभाव को कभी नहीं छोड़ता ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसे विकार पर बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि विकार आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है। इस तीसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार आत्मा का 'अनियतभाव' है, और दूसरे बोल की अपेक्षा से तो विकारभाव भी 'नियत' है, क्योंकि उस समय उसी पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, इसलिये अनियतरूप से उसका वर्णन करेंगे; परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि उस समय की उस पर्याय के क्रम में भंग पड़ा! आत्मा की पर्याय में कभी विकार होता है और कभी नहीं होता; और न वह सदैव एक-सा रहता है—इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है; उसकी तीनों काल की पर्यायों में इतनी नियमितता है कि उसके क्रम का भंग करने में अनन्त तीर्थंकर भी समर्थ नहीं हैं। पर्यायों के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करनेवाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है इसलिये वह स्वयं स्वभावोन्मुख और मोक्षपथ में बैठा हुआ

साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नहीं होती इसलिये उस क्रम की प्रतीति करनेवाले की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव पर होती है, और उसीमें मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनय से ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभाव को सदैव ऐसे का ऐसा नियत बना रखा है; मेरे स्वभाव में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं; विकार के समय मेरे स्वभाव में से कुछ कम नहीं हो जाता और न केवलज्ञान होने से कुछ बढ़ जाता है; पर्याय में विकार हो या निर्विकारीपना हो, परन्तु अपने नियतस्वभाव में से तो सदैव एकरूप हूँ। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा का नियतधर्म है परन्तु उसी के साथ पर्याय अपेक्षा से अनियतधर्म भी विद्यमान है उसे भी धर्मी जानता है; उसका वर्णन अगले बोल में करेंगे।

❀

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमें नहीं हैं; अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसी प्रकार नियतनय से आत्मा में भी ऐसा नियतस्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णता से पृथक् नहीं होती ऐसा उसके स्वभाव का नियम है; उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्व से कभी पृथक् नहीं होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभाव के नियम को नियत कहा है। गोम्मटसार का नियतवादी तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। और द्वादशानुप्रेक्षा में ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ सहित सम्यग्दृष्टि के सम्यक् नियतवाद का वर्णन है। जिस पदार्थ कि जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्था का होना सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उस

पदार्थ की उस समय उसी प्रकार वैसी ही अवस्था नियम से होती है; कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमें फेरफार नहीं कर सकते– ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि को साथ में ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूँ। इसलिये पर से उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्याय का आधार द्रव्य है उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ; द्रव्य–दृष्टि से उसे क्रमशः पर्याय की शुद्धता होने लगती है। —ऐसा यह सम्यक् नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है वह गुरुगम से समझना चाहिये।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे तहां समजवुं तेह,
त्यां त्यां ते ते आचरे आत्मार्थी जन एह।

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भड़क उठते हैं; परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते हैं? 'क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है'—ऐसा जानने का वीड़ा किसने उठाया? जिस ज्ञान ने वह वीड़ा उठाया है वह अपने ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के विना वह वीड़ा नहीं उठा सकता; क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है— ऐसा वीड़ा उठानेवाले ज्ञान में ज्ञान-स्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ—इत्यादि सभी समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा हुआ नियतधर्म सभी जीवों में है।

(२) द्वादशानुप्रेक्षा में कथित सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कथित मिथ्या नियतवाद गृहीतमिथ्यादृष्टि के ही होता है।

—इसलिये नियत का जहाँ जो प्रकार हो वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नहीं चाहिए।

'नियत स्वभाव' भी आत्मा का एक धर्म है; और उस धर्म से आत्मा को जानने पर उसके दूसरे अनन्त धर्मों की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। आत्मा में अनन्त धर्म एकसाथ ही हैं; उनमें से एक धर्म की यथार्थ प्रतीति करने से दूसरे समस्त धर्मों की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाण ज्ञान होकर अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

पाँच समवाय कारणों में जो भवितव्य अथवा नियति आता है वह सम्यक् नियतवाद है; उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं। न होनेवाला हो जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं; जो होता है वह सब नियत ही है। परन्तु उस नियत के निर्णय में ज्ञातास्वभाव का 'पुरुषार्थ' है, स्वभाव में जो पर्याय थी वही प्रगट हुई है, इसलिये उसमें 'स्वभाव' भी आ गया; और जितने अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई उतने अंश में कर्म का अभाव है—वह 'निमित्त' है।—इस प्रकार एक समय में पाँचों बोल एकसाथ आ जाते हैं। उनमें नियत-अनियतरूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है वह 'नियत' और नियत के अतिरिक्त अन्य चार बोल हैं वह 'अनियत'—इस प्रकार नियत-अनियतरूप अनेकान्त वह भगवान का मार्ग है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित'—ऐसा नहीं समझना चाहिये; किन्तु आत्मा के नियत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना।

सम्यक् नियत में तो विकारी-अविकारी और समस्त पर्यायें आती हैं; क्योंकि समस्त पर्यायों का क्रम और यहाँ कहे हुए नियतस्वभाव से तो अकेला ध्रु[illegible] उसमें पर्याय नहीं आती।

पर्याय के नियत का निर्णय भी द्रव्य के [illegible] जा सकता, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में से ही [illegible]

का निर्णय करने में द्रव्यसन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ है; वह निर्णय करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। वर्तमान पर्याय की बुद्धि अंतर्मुख होकर द्रव्य में प्रविष्ट हो जाये तभी सम्यक् नियत का निर्णय होता है। पर्याय में समय-समय का विकार है वह मेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है—इस प्रकार दोनों धर्मों से आत्मा को जाने तो अवस्था विकार की ओर से विमुख होकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियत स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, या पर्याय के नियत का यथार्थ निर्णय करे, अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचों समवाय एकसाथ हैं उन्हें समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हो जाती है। जिसने नियत का यथार्थ निर्णय किया उसके आत्मा के ज्ञानस्वभाव का, केवलीभगवान का और पुरुषार्थ का विश्वास भी साथ ही है। नियत का निर्णय कहो, केवलज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एकसाथ ही है।

नियत के साथ वाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल हैं उन्हें नियत में नहीं लेते इसलिये उन्हें अनियत कहा जाता है। इस प्रकार नियत और अनियत—ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकार से—द्रव्य का एकरूप स्वभाव वह नियतधर्म है और पर्याय में विचित्रता होती है वह अनियतधर्म है;—इस प्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। उनमें नियतनय से आत्मा के द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया; अब अनियतनय से पर्याय की बात करेंगे।

—यहाँ २६वें नियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[२७] अनियतनय से आत्मा का वर्णन

नियतनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया;

अब अनियतनय से पर्याय की बात कहते हैं। आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है; जिस प्रकार पानी में उष्णता नियमित नहीं है परन्तु अग्नि का निमित्त पाकर कभी-कभी उसमें उष्णता आ जाती है, उसी प्रकार अनियतनय से आत्मा रागादि अनियतस्वभावरूप ज्ञाता होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है वह नियत है, और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है; वह उष्णता पानी में नित्य-स्थायी रहनेवाली नहीं है इसलिये अनियत है; उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में रागादि विकारीभाव होते हैं वे स्थायी रहनेवाले नहीं हैं परन्तु क्षणिक हैं इसलिये वे अनियत हैं। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु "होना नहीं था और हो गया"— ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। रागादि को अनियत कहा इसलिये कहीं पर्याय का क्रम टूट जाता है ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए वे कहीं पर्याय का क्रम टूटकर नहीं हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि भी नियत क्रम में ही हैं; परन्तु रागादि अशुद्ध भाव हैं, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है इसलिये उसे अनियत-स्वभाव कहा है। अनियतनय से देखें तो उसमें भी क्रमबद्धपर्याय का फेरफार होना नहीं आता; पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसार में जिस नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है; परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञाता स्वभाव है उसे वह जानता नहीं है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नहीं है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनंतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नहीं करता; स्वभाव की सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नहीं करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को वह जानता नहीं है; और निमित्त में कितने

कर्मों का अभाव हुआ है उसे भी वह नहीं समझता।—इस प्रकार किसी प्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है; नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायों को वह मानता नहीं है और श्रद्धा-ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सम्यक्‌दृष्टि तो नियत के निर्णय के साथ-साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और 'मैं ज्ञाता स्वभाव हूँ'—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है इसलिये नियत के निर्णय में उसे सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है; उस समय निर्मलपर्याय रूप स्वकाल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को एक साथ पाँच समवाय आ जाते हैं। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है वह अज्ञानी नहीं समझ सकते इसलिये भ्रम से दोनों में समानता लगती है, परन्तु वास्तव में तो उन दोनों में आकाश-पाताल जितना अंतर है।

'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नहीं है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्याभिमान का सेवन कर रहा है, वे यह नियतवस्तुस्वभाव की यह बात सुनते ही भड़क उठते हैं के 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फ़ेरफार नहीं हो सकता?' यानी उसे ज्ञाता नहीं रहना है किन्तु फेरफार करना है;—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नहीं है, अर्थात् निश्चित नहीं है; उसमें हम अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं;—यह उसकी मान्यता मिथ्या है; क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जायें! यहाँ आत्मा के अनियतधर्म का वर्णन करते हैं उसमें तो अलग बात है; कहीं उसमें पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने की बात नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में फेरफार होना आयेगा ! —परन्तु ऐसा नहीं है; किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नहीं है—इस नियम को अबाधित रखकर ही सब वात है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्यायदृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में धारण कर रखता है।

आत्मा के अनियतधर्म को कौन मान सकता है ?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय में भी विभाव नहीं है—ऐसा जो माने उसने आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जाना है;

अथवा आत्मा की पर्याय में जो विकार है वह पर के कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जानता है;

और पर्याय में जो क्षणिक विकार है उसीको यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जाना है;

पर्याय में जो विकार है वह उसके अपने कारण से है; परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है, परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव—ऐसा जो जाने उसीने आत्मा के अनियतधर्म को यथार्थरूप से माना कहा जाता है।

सर्व जीव कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये कर्म ही जीव को विकार करता है ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियतधर्म को वह नहीं जानता है। रागादि विकार होता है वह कहीं जड़कर्म का धर्म नहीं है, परन्तु वे रागादि आत्मा की ही अवस्था में होते हैं इसलिये आत्मा का ही अनियतधर्म है। तत्त्वार्थ-

सूत्र में भी औदयिकभाव को भी आत्मा का स्वतत्त्व कहा है। रागादिभाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कहीं कर्म के वश नहीं है; आत्मा का अनियतधर्म कहीं जड़कर्म के कारण नहीं है।

'आत्मा की पर्याय में विकार नहीं होना था, किन्तु बहुत से कर्मों का एकसाथ उदय आया इसलिये विकार हुआ'—ऐसा अनियतपना नहीं है; परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है वैसा पर्याय में नहीं है, इसलिये पर्याय के विकार को अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और संसार है वह अनियतस्वभाव से है; एक समय पर्यंत का अनिश्चित है, इसलिये वह आत्मा में सदैव नहीं रहेगा, और शुद्ध स्वभाव तो ज्यों का त्यों रहनेवाला है; उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा संसार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव! मैं ज्ञायक आनन्दकन्दस्वभाव से नियत हूँ और अवस्था का विकार वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो! विकार आत्मा में स्थायी रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये पर्याय में भले ही चाहे जितना विकार हो उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो!—ऐसा करने से, जैसा नित्यस्थायी शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट हो जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से अनियत जो विकार है वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कहीं आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नहीं हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक अनियत नाशवंत हैं, वे शरणभूत नहीं हो सकते, और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है; उसकी शरण में जाने से जीव को शांति और कल्याण होता है। इस प्रकार नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का

आश्रय करना वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव हैं वह अनियत है, इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारी भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है, इसलिये वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता वह उसका नियतस्वभाव है इसलिये वह दूर नहीं होता, परन्तु पानी की उष्णता अनियत है इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्य द्रव्यस्वभाव तो नियत है, उसका कभी नाश नहीं होता, और पर्याय का विकार अनियत-स्वभावरूप है इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्याय में एक-समय का विकार देखकर आकुलित मत हो, क्योंकि सारा द्रव्य विकार-रूप नहीं हो गया है; द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही, उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़, और द्रव्य का स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परम पारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है, और पर्याय में पामरता है उसे अनियतनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनों धर्मों को जो जानता है उसका बल पूर्णस्वभाव को प्रभुता की ओर ढले बिना नहीं रहता, इसलिये द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभाव में विकार नहीं है और पर्याय में विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया?—क्या कर्म के कारण आया? नहीं; विकार भी

आत्मा का ही अनियत धर्म है; आत्मा की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है। अग्नि के संयोग के समय पानी गर्म हुआ वह अग्नि के कारण नहीं हुआ है परन्तु पानी की पर्याय में उस प्रकार की योग्यता है; वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है; उसी प्रकार आत्मा में जो रागादि पर्याय होती है वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एकधर्म को भी निकाल दें या पर के कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नहीं होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो; उसके सौ वर्ष में से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नहीं रहती, परन्तु उसके दो टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा अनंतधर्मों का अखण्ड पिण्ड है; उसमें से उसके एक भी अंश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नहीं होती।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं इसलिये नयज्ञान स्व को ओर देखता है। पर की ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है; अघातिकर्म के कारण वह कंपन नहीं है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिक भाव है; वह भी स्वतत्त्व का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर प्रमाण हैं, पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है; पर्याय का धर्म कहीं पर के आधार पर अवलम्बित नहीं है। पर्याय में जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है?—अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वयं ही विकाररूप भासित होता है; कहीं परद्रव्य विकाररूप भासित नहीं होता।

वस्तु के अनन्तधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप से अपनी आत्मा

की प्रतीति कराते हैं; धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मन्त्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनों की बात साथ ही साथ ली है। नियतनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियत-स्वभाव को देखता है और उसी समय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में अनियतस्वभाव भी है; उसे देखनेवाला अनियतनय है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है; भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है, और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूल रहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा हो वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञान की महिमा क्या? और प्रमाणता क्या? आत्मा के विकार रहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एकाग्रता दूर होकर स्वभाव में एकाग्र होना नहीं रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता इसलिये किसी प्रकार का धर्म नहीं होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है, और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं इसलिये अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार और विकार हैं, उन्हें यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता तो नियत है, और पानी में उष्णता अनियमित है इसलिये कभी होती है और कभी नहीं भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय में जो उष्णता है वह उसका अपना अनियतस्वभाव है; उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है; यदि उस अनियत उष्णस्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा? —मुँह जल जायेगा! उसी प्रकार चैतन्यभगवान आत्मा उपशमरस का समुद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय

में जो रागादि हैं वह भी उसका एकसमय का अनियतस्वभाव है।
अपनी पर्याय में वे रागादि हैं—ऐसा यदि न जाने और आत्मा को
सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नहीं होगा परन्तु
मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय
में जो क्षणिक विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है और
वह 'अनियतनय' का विषय है, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं
है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्याय में न होता
हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नहीं
रहता; अर्थात् मोक्षमार्ग ही नहीं रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—
दोनों का यथार्थ ज्ञान हो तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु में नियत और अनियत दोनों धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव
एकरूप रहनेवाला स्वभाव है वह नियत है, और जो क्षणिक स्वभाव
है वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय में जो पर्याय होना हो उसके
बदले उल्टी-सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियत का
अर्थ नहीं है। जिस प्रकार द्रव्य नियत है, उनके जड़-चेतनादि गुण
नियत हैं, उसी प्रकार उनकी समय-समय की पर्यायें भी नियत हैं।
पर्यायों का क्रम कहीं अनियत नहीं है; जिस समय जो पर्याय होना
नियत है, उस समय वही पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते
हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नहीं होगा और वस्तु की पर्यायों का
क्रम भी नहीं टूटता। अहो! इस निर्णय में स्वतंत्र वस्तु-स्वभाव
का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की सन्मुखता पर की ओर से
हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। यह अंतर्दृष्टि
की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ़
जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव से अंतर्दृष्टि का यह
रहस्य नहीं समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते हैं कि—'द्रव्यों की
संख्या नियत है, उनके चेतन-अचेतन गुण नियत हैं, तथा प्रतिक्षण
उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा वह भी नियत है;

परन्तु अमुक समय में अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नहीं है; जैसे संयोग आयेंगे वैसी अवस्था होगी।' देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतंत्र वस्तुस्वरूप की कोई खबर नहीं है और सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। 'द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा वह अनियत है;— इस प्रकार नियत-अनियतपना वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं; परन्तु वह बात मिथ्या है; जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा स्वरूप नहीं है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी पर्याय में जो विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है; विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है, अनेकरूप है। यदि आत्मा में अनियत रूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनन्तकर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नहीं बना सकते। विकार अनियत होने पर भी वह पर के कारण नहीं है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में हुआ इसलिये उसे अनियत कहा है; परन्तु वह विकार होनेवाला नहीं था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है। पर्याय का जो नियतपना है वह बात यहाँ नहीं ली है, यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वें अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं; उनमें से नियत तथा अनियत

धर्म का वर्णन किया; अब आत्मा के स्वभावधर्म और अस्वभाव-धर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।

[३०] कालनय से आत्मा का वर्णन

"आत्मद्रव्य कालनय से, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,- ग्रीष्म ऋतु के दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। आत्मा की मुक्ति जिस समय होना है उसी समय होती है—ऐसा कालनय से ज्ञातव्य आत्मा का एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है उस काल भी वह पुरुषार्थ पूर्वक ही होती है; किन्तु पुरुषार्थ से कथन न करके "स्वकाल से मुक्ति हुई"—ऐसा कालनय से कहा जाता है। स्वकाल से मुक्ति हुई इसलिये पुरुषार्थ उड़ जाता है-ऐसा नहीं है; स्वकाल से मुक्ति हुई उसमें भी पुरुषार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँ से होती है?—द्रव्य में से होती है, इसलिये ऐसा निर्णय करने-वाले का लक्ष अकेली मुक्ति की पर्याय पर नहीं रहता किन्तु पर्याय के आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; "जिसकाल मुक्ति होना हो उस काल होती है"—ऐसा धर्म तो आत्मद्रव्य का है, इस-लिये आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है; इसलिये इस निर्णय में मुक्ति का पुरुषार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्तिपर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव में द्रव्य की ओर देखता है, क्योंकि "जिसकी सिद्धि समयपर आधारित है"—ऐसा धर्म द्रव्य का है; द्रव्य की ओर देखा वही अपूर्व पुरुषार्थ है। द्रव्य की ओर देखनेवाले ने निमित्त, विकार या पर्याय पर से दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; ऐसी द्रव्यदृष्टि में ही क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, स्वकाल का निर्णय,

भेदज्ञान, मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ, केवली का निर्णय—इत्यादि सबकुछ आ जाता है। कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करना। यह धर्म कहीं काल के आधार से नहीं है किन्तु आत्मा के आधार से है, इसलिये मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नहीं किन्तु आत्मा की ओर देखता है।

केवली भगवान के केवलज्ञान में जो काल देखा उस काल ही मुक्ति होती है, मुक्ति का काल बदल नहीं सकता—ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है; आत्मा के इस धर्म का निर्णय कहीं परसन्मुख देखने से नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य के समक्ष देखने से ही उसके धर्म का निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है ऐसे आत्मद्रव्य को ही देखता है; इसलिये जो जीव अंतर्मुख होकर आत्मद्रव्य को देखता है उसीने कालनय को सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्ति का काल अल्पकाल में ही होना होता है।

देखो, यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नहीं करना है किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है; इसलिये धर्म देखनेवाले को स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्मों का निर्णय करने में अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लेना ही इस सबका तात्पर्य है। जो जीव सम्पूर्ण आत्मा को तो प्रतीति में लेता नहीं है और एक-एक धर्म को पृथक् करके देखता है, उसके सर्व नय मिथ्या हैं। प्रमाणज्ञान से अनन्त धर्मात्मक अखंड आत्मा को स्वीकार किये विना उसके एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं होता, अर्थात् नय नहीं होता।

कालनय कहता है कि आत्मा में जिस समय सम्यग्दर्शन होना है उसी समय होगा, किन्तु वह किसे लगा है?—जिसने द्रव्य सन्मुख दृष्टि की उसे! इसलिये जिसे यह बात जम गई उसे तो

सम्यग्दर्शन का काल आ ही गया है। आत्मा का जो धर्म है वह क्षणिक पर्याय के आधार से नहीं है किन्तु द्रव्य के आधार से है। पर्याय तो प्रतिसमय चली ही जाती है, एक गुण की अनेक पर्यायें तो एक समय में होती नहीं हैं, और द्रव्य तो सदैव एकरूप है; इसलिये उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्याय के काल का या क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय का काल व्यवस्थित है। जिस पर्याय का जो काल है उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यदि उसमें फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नहीं होगा, केवलज्ञान को भी अव्यवस्थित मानना होगा, अतः त्रिकालवर्ती पर्यायों के पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समय की पर्यायें व्यवस्थित हैं, प्रत्येक पर्याय का स्वकाल व्यवस्थित है ऐसा निश्चय करने में सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है; क्योंकि पर्याय का निर्णय करनेवाले का मुख आत्मद्रव्य पर है, उसकी दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है; द्रव्य सन्मुख दृष्टि में उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नहीं रहती, किन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मल परिणमन हो जाता है और अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्याय को अव्यवस्थित माननेवाला निःशंक हो ही नहीं सकता और व्यवस्थित के निश्चय बिना सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नहीं होता।

अहो! वीतरागी संत चाहे जिस पक्ष से बात समझायें, किन्तु उसमें वस्तु का मूल स्वभाव ही बतलाना चाहते हैं।

* * *

जो मुक्ति का काल है उसी काल में मुक्ति होती है—ऐसा कालनय से आत्मा का स्वभाव है। अब, आत्मा की मुक्ति के समय का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही वह निर्णय होता है, इसलिये स्वभावसन्मुख दृष्टि में अल्पकाल में मुक्ति

हो ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञ भगवान ने देखा है तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है; किन्तु उस धर्म का निर्णय कब होता है? वह धर्म पर के आश्रय से नहीं है किन्तु आत्मा के आश्रय से ही है, इसलिये जब संपूर्ण आत्मा को दृष्टि में ले लें, तब उसके इस धर्म का निर्णय होगा। और जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया उसके अल्पकाल में ही मुक्ति का स्वकाल अवश्य होता है। यह कालनय भी कहीं पुरुषार्थ उड़ाने के लिये नहीं है, किन्तु उसमें वीतरागी ज्ञातादृष्टापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, वह मोक्ष का कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे उसीको यह नय यथार्थरूप से जमता है; अन्य किसीको यह नय नहीं जमता।

शंका—कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है, इसलिये अब हमें क्या? हमें तो काल की ओर देखकर बैठना ही रहा?

समाधान—ऐसा नहीं है; सुन भाई! कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है—ऐसा कौन है?—आत्मद्रव्य! तो यह धर्म माननेवाले को काल सन्मुख देखना नहीं रहा किन्तु आत्मा की ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गई वहाँ स्वकाल अल्पसमय में पकना ही होता है। यहाँ दृष्टांत में भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्मऋतु आने पर पक जाता है; उसी प्रकार सिद्धांत में ऐसा आत्मा लेना चाहिये कि स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव की ओर के सम्यक् पुरुषार्थ से जिसकी मुक्ति का काल पक जाता है। सर्वज्ञदेव ने तो मुक्ति का जो समय है वह देखा है, किन्तु "मैं मुक्त होऊँगा, मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वभाव है—" ऐसा जिसने निर्णय किया उसे बन्धन, संसार या राग की रुचि नहीं रहती; किन्तु जिसमें से मुक्तदशा आना है ऐसे स्वद्रव्य की ओर वह देखता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति का

स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है उसे वास्तव में मुक्ति का निर्णय नहीं है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला आत्मा को देखता है, क्योंकि मुक्ति किसी निमित्त के, राग के या पर्याय के आश्रित नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य के आश्रित है; इसलिये वह आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञाताद्दष्टा रहता है; उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य या उतावली नहीं होती, ज्ञाताद्दष्टारूप से वर्तते हुए अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होने का निर्णय किया कि स्वकाल में मुक्ति पर्याय होने का धर्म मेरे आत्मा में है, उसने राग में एकाग्र होकर वह निर्णय नहीं किया है किन्तु ज्ञाता द्रव्य में ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके वह निर्णय किया है; इसलिये वर्तमान में वह साधक तो हुआ है; अब उसकी द्दष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मैं शीघ्र मुक्ति करूँ और संसार को टालूँ'—ऐसी पर्यायद्दष्टि उसके नहीं है, अब स्वभाव में एकाग्र होने से अल्पकाल में उसकी मुक्तदशा हो जायेगी।

मैं खूब शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ, दया, कठिन व्रत-तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ;—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे उसमें तो विषमता है; ऐसी विषमता से मुक्ति नहीं होती, किन्तु मैं तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने से मुक्ति हो जाती है। ज्ञाता-द्दष्टा स्वभाव में रहने से जिस समय मुक्ति होना है उस समय हो जाती है; उस मुक्ति का समय आने में दीर्घकाल नहीं होता। अरे! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योंकि अवस्था ही वस्तु की व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना है; वह उपाय तो करता नहीं है, फिर मोक्ष कहाँ से होगा? स्वद्रव्य की द्दष्टि करने से मोक्ष अल्पकाल में हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर

दृष्टि नहीं रहती। स्वभाव का अवलम्बन रखकर ज्ञाताद्रष्टा हुआ उसमें पर्याय की उतावली करना रहता ही कहाँ है? क्योंकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी पर्याय का विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होने में उसे अधिक काल नहीं लगेगा।

देखो, यह कालनय का रहस्य! जिसने इस कालनय से भी आत्मा का निर्णय किया उसके ज्ञान में ज्ञाताद्रष्टापने का धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्य में अल्पकाल में मुक्ति होने का स्वकाल है ही; केवलीभगवान ने भी अल्पकाल में उसका मोक्ष देखा है। कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा उसमें पुरुषार्थ की निर्बलता नहीं है किन्तु स्वभावदृष्टि का बल है; इसका निर्णय करनेवाला जीव द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्ध-मोक्ष का भी ज्ञाता रह जाता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवान के ज्ञान में उसकी मुक्ति के प्रमाण अंकित हो गये हैं, और उस आत्मा के स्वभाव में भी वैसा धर्म है। अहो! इसमें मोक्ष का पुरुषार्थ है किन्तु आकुलता नहीं है—ज्ञाताद्रष्टापने का धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञाताद्रष्टापना नहीं रहा किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ; वह तो मोक्ष को रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचंद्रजी भी कहते हैं कि—जितनी उतावली उतनी कचास, और जितनी कचास उतनी खटास। स्वभावदृष्टि में धर्मी को प्रमाद भी नहीं है; उतावली भी नहीं है, और न पुरुषार्थ की कचास भी है; स्वभावदृष्टि में ज्ञाताद्रष्टारूप से मोक्ष का प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्पकाल में मोक्षदशा हो जाती है।

देखो, आचार्यदेव ने कालनय को गुप्त नहीं रखा; कालनय के वर्णन में भी शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय का ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पना से विपरीत अर्थ करते हैं।

धर्मी कहते हैं कि—"भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो"—लेकिन वह किसकी दृष्टि में ? ध्रुवस्वभाव की दृष्टि में; स्वभाव-दृष्टि में बंध–मोक्षपर्याय पर धर्मी को समभाव है, अथवा बन्ध टालूं और मोक्ष करूँ—इस प्रकार पर्याय की विषमता पर उसकी दृष्टि नहीं है किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है, उस स्वभाव की दृष्टि में अल्पकाल में भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

यह विकार मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है, उसका विकार दूर नहीं होता। मुझे विकार नहीं चाहिये—इस प्रकार जो विकार को टालना चाहता है उसकी दृष्टि विकार सन्मुख नहीं होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है; शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है इसलिये उस स्वभाव की दृष्टि से विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा में मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है;—ऐसा जिसने कालनय से जान लिया उस जीव की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही पड़ी है और उस द्रव्य के आश्रय से अल्पकाल में अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वें कालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[३१] अकालनय से आत्मा का वर्णन

'अकालनय से आत्मद्रव्य जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है,—कृत्रिम गरमी से पकाये जानेवाले आम्रफल की तरह।'

जिसे स्वभावदृष्टि है वह जीव अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभाव में एकाग्र होकर अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र

पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीव ने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि स्वभाव के अवलम्बन से तू अचिरं अर्थात् शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करेगा। अकालनय से ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि मोक्ष का जो समय है वह बदल जाता है। जैसे घास में रखकर आम को पकायें, वहाँ भी वह आम तो उसके पकने के काल में ही पका है, लेकिन घास में रखा था उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घास में रखकर जल्दी पका दिया। वैसे अल्प समय में उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह अकालनय का कथन है और वैसा एक धर्म आत्मा में है। मुक्ति तो उसका जो समय था उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदला नहीं गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तु में है। शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहे कि हे नाथ! हे स्वामी! आपने मुझे इस संसार से तार दिया...यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसार में भटकते भटकते मर जाते, आपके चरणकमलों के प्रसाद से शीघ्र हमारे संसार का अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे। आपके उपकार से हमारा अनंत संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकाल-नय से कहा जाता है, मोक्ष होने का काल तो जो है वही है, वह कहीं उलटपुलट नहीं हो गया है।

आत्मा कैसा है ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा की पहिचान कराते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से ४७ धर्मों का कथन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। उनमें

कालनय से ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्ति का स्वकाल है तभी वह मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे आम उसके मौसम में पकता है वैसे आत्मा के स्वभाव में मुक्ति का जो समय है उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो वहाँ आत्मा की मुक्ति होती है। वहाँ आत्मा की अपने काल से मुक्ति हुई ऐसा कालनय से कहा जाता है। लेकिन वह मुक्ति विना पुरुपार्थ के नहीं हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा अकालनय से कहा जाता है, उसमें भी मुक्ति का जो समय है वह तो वही है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव ने वहुत काल के कर्मों को अल्पकाल में नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्ष में लेना वह अकालनय है।

यह जो धर्म कहे जा रहे हैं वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तु के आधार से हैं; किसी निमित्त के आधार से, राग के आधार से, अकेली पर्याय के आधार से अथवा एक एक धर्म के आधार से यह धर्म विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् इन धर्मों का निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्ष में आ जाता है। संपूर्ण वस्तुस्वभाव को दृष्टि में लिये बिना उसके धर्म का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आत्मद्रव्य की सन्मुखता से ही उसके धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो उसे अचिरं (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नहीं रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प वगैरह के काटने से छोटी उम्र में कोई मनुष्य मर जाये तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्य की अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थतः तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नहीं हुई है, लेकिन लोक-व्यवहार से अकाल में अवसान हुआ ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मा में

एक ऐसा धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। जो जीव वस्तुस्वभाव से विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है वह जीव प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है, वैसे ही स्वभावदृष्टि के बल से सम्यक्त्वी जीव संसार को एक क्षण में नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा अकालनय से कहा जाता है। पहले स्वभाव पर दृष्टि नहीं थी और संसार पर दृष्टि थी तब प्रतिक्षण अनन्त संसार की वृद्धि करता है ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागम से विपरीत दृष्टि को बदलकर स्वभावदृष्टि की वहाँ एक क्षण में अनन्त संसार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। परन्तु संसार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नहीं होना था और हो गया—ऐसा अकालनय का अर्थ नहीं है। अकालनय से पर्याय का क्रम बदल जाये—ऐसा नहीं है। लेकिन अनन्तकाल के कर्म अल्पकाल में नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। छद्मस्थ के ज्ञान में यह नय होते हैं, केवलीभगवान के ज्ञान में नय नहीं होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनय से पृथक् पृथक् दो धर्म कहे हैं, वे दोनों धर्म अलग अलग जीव में नहीं हैं परन्तु एक ही जीव में दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं; इसी तरह नियत अनियत वगैरह नयों से जो धर्म कहे हैं वे भी प्रत्येक आत्मा में एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नहीं। अर्थात् एक धर्म एक जीव में और दूसरा धर्म दूसरे जीव में हो, ऐसा नहीं है। एक ही जीव में समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमें अदलबदल हो

जाये—ऐसा परस्पर विरोध नहीं है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की ऐसा कहना वह कालनय का कथन है, परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी, विना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नहीं है; स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना वह अकालनय का कथन है। परन्तु, पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की ऐसा जब अकालनय से कहा तब भी मुक्ति का स्वकाल न था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नहीं, पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय यह दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उन सभी धर्मों का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

—यहाँ ३१ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

卐

शुद्धि-पत्रक

पत्र नं०	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
१०	१०	आपनी	अपनी
१३		'शुद्ध कारण कार्य'	'कारण शुद्धपर्याय'
४५	८	अनेकन्त	अनेकान्त
७८	२७	कार्यकारकपना	कार्यकारणपना
८७	१७	अवस्था का	अवस्था का अकर्ता है
९३	७	कर्ता	कर्ता वह
१२६	१९	रोग हैं मिटाते	रोग मिटाते हैं
१३४	१०	अनन्ययना	अनन्यपना
१४१	२०	कारण	करण
१४८	१६	स्वभाव-भावसन्मुख	स्वभावसन्मुख
१७४	१५	जानता	जानता है, लेकिन राग के अवलम्बन से
१८६	२०	उपावि	उपाधि
२०६	१३	मनित्व	मुनित्व
२१०	६	मांमादि	मांसादि
२१६	२३	पर्यायरूप	भविष्यरूप
२३३	२२	निमत्तदि	निमित्तादि
२३३	२४	भेल	मेल
२५६	२३	नेरक	करने
२७७	२	पदाथा	पदार्थो
२८०	१६	अश	अंश
२९९	२३	भा	भी
३०८	१३	व्य	द्रव्य
३०६	८	हो	ही
३११	१५	निःशक	निःशंक
३१७	११	को	की

३१६	६	स्वय	स्वयं
३२३	१३	हा	ही
३३१	११	का	की
३३२	२३	परिणाम	परिणाम को
३३४	२२	व्य	द्रव्य
३३५	६	बजार	बाजार
३३८	१६	की बात है	की बात नहीं है परन्तु स्वसन्मुख स्वप्रकाशक-पना सहित पर प्रकाशक की बात है।
३४४	२६	को	की
३४६	६	यद्ध	बद्ध
३४६	६	तोसरी	तीसरी
३५७	२०	अशुद्ध भाव	अशुद्ध भाव है